प्राच्य मानव वैज्ञानिक

(संयुक्तप्रान्तीय लोकसंस्कृति सभा का मुख-पत्र)

सम्पादक

डा० डी० एन० मजूमदार

नरेशचन्द्र

प्राप्ति-स्थान

भारत बुक कम्पनी

लालबाग, लखनऊ।

[मूल्य ४)

लखनऊ, अप्रेल २१, १९४९.

डा० मजूमदार के नेतृत्व में लखनऊ ऐन्थ्रोपोलोजिकल सोसाइटी बहुत उपयोगी काम कर रही है। यों तो विभिन्न जातियों के गीतों के संग्रह का काम और लोगों ने भी किया है परन्तु गीतों और कहावतों के वैज्ञानिक अध्ययन का काम जहाँ तक मैं जानता हूँ नियमित रूप से इस समिति की ही ओर से हो रहा है। इसके सिवा हमारे प्रान्त में रहनेवाले थारू, भील और इसी प्रकार के अन्य आदिम निवासियों के रीति-रिवाजों के अध्ययन का काम भी डा० मजूमदार और उनके शिष्य ही कर रहे हैं। इस प्रकार जो सामग्री उपलब्ध होगी वह समाज-विज्ञान के लिए बहुत ही उपयोगी होगी। मुझको आशा है कि इस काम में और लोग भी अभिरुचि दिखलावेंगे।

अब तक सारा काम अंग्रेजी में ही होता था। मुझे यह जानकर बड़ी प्रसन्नता हुई कि अब उसका कुछ अंश हिन्दी में प्रकाशित होने जा रहा है। इस प्रकाशन से हिन्दी-पाठकों का बहुत लाभ होगा। इसका यह परिणाम भी होना चाहिए कि लोग इस विषय की ओर आकृष्ट हों।

यह काम शास्त्रीय दृष्टि से तो उपयोगी है ही, पर इससे उन लोगों के काम में भी बहुत सहायता मिलेगी जो इन पिछड़ी जातियों का, जो अब तक सभ्य समाज से संस्कृति की दृष्टि से बहुत दूर रही हैं, सामाजिक सुधार करके इनके सांस्कृतिक स्तर को ऊपर उठाना चाहते हैं।

सम्पूर्णानन्द
शिक्षा तथा श्रम-मंत्री
संयुक्तप्रान्त.

विषय-सूची

चित्र-सूची

परिचय

हमारे देश के सांस्कृतिक विकास की प्रमुख विशेषता इसकी व्यापकता रही है। पिछले चार हजार वर्षों में अनेकों संस्कृतियां और सभ्यतायें बाहर से आईं और हमारी संस्कृति ने उन्हें अपने में समाविष्ट कर लिया। इस विशाल सागर में कितनी ही नदियां आकर मिली और अपने व्यक्तित्व को खोकर उसकी विशालता में वृद्धि करती रहीं। अठारहवीं शताब्दी के मध्य तक इस कथन को सिद्ध करने में कोई कठिनाई न होगी पर उस समय से हमारी संस्कृति के विकास का सिद्धान्त कुछ परिवर्तित होता जान पड़ता है। अठारहवीं शताब्दी के मध्य में हमारी संस्कृति का सम्पर्क एक ऐसी संस्कृति से हुआ जिसको वह अपने में समाविष्ट न कर सकी वरन् उसके प्रभाव से स्वयं अपना व्यक्तित्व खो बैठी और अपना वास्तविक स्वरूप ऐसा बिगाड़ लिया कि उसका पहिचानना कठिन हो रहा है।

इसका कारण ? क्या वास्तव में सांस्कृतिक विकास का सिद्धान्त बदल गया है ? संकीर्ण दृष्टि से देखने पर सम्भवतः यह प्रतीत होगा कि वह आगन्तुक संस्कृति विजयी और ऐश्वर्यशाली जाति की संस्कृति थी इस कारण पराजित और पराधीन जाति की संस्कृति उसके सन्मुख न टिक सकी। परन्तु ऐसा मत इतिहास से अनभिज्ञता का परिचय देता है। हमारे सामने कम से कम दो उदाहरण ऐसे हैं जिनमें विजयी जाति की संस्कृति पराजित जाति की संस्कृति पर विजय न पा सकी वरन् स्वयं पराजित जाति की संस्कृति से प्रभावित हुई। रोमन साम्राज्य ने ग्रीस को विजय करके अपने अधीन कर लिया परन्तु सांस्कृतिक संघर्ष में ग्रीस ने रोम पर विजय पाई। पुनः रोम ने फिलिस्तीन को शताब्दियों तक अपनी राजनीतिक पराधीनता में रक्खा पर यहूदी-संस्कृति ने अपने को रोमन संस्कृति के प्रभाव से सुरक्षित रक्खा और

आज भी जब कि यहूदी हजारों वर्षों की बहिष्कृति और देश-देश की खाक छानने के बाद अपने लिये एक देश बनाने में जान की बाजी लगा रहे हैं, उनकी संस्कृति का व्यक्तित्व अपने स्थान पर अटल है और उन्हें जीवन-संघर्ष में इस धैर्य के साथ लगे रहने का सामर्थ्य प्रदान करता है। इन ऐतिहासिक उदाहरणों को सन्मुख रखते हुए हमारे विचार में हमारी संस्कृति और सभ्यता का पिछले डेढ़ वर्षों में अपने में एक नवागन्तुक संस्कृति को विलीन न कर पाने और स्वयं उस संस्कृति से इतना अधिक प्रभावित हो जाने का कारण केवल यह नहीं हो सकता कि वह नवागन्तुक संस्कृति विजयी जाति की संस्कृति थी। कुछ और ही कारण जान पड़ता है।

किसी भी जाति की उच्च श्रेणी की सभ्यता को जीवन और बल प्रदान करने का स्रोत उस जाति की लोकसंस्कृति होती है। समाज की उच्च श्रेणी की सभ्यता का दूसरी सभ्यताओं से सम्पर्क रहता है और एक दूसरी को प्रभावित करने का प्रयत्न करती रहती हैं। परन्तु यदि वह उच्च श्रेणी की सभ्यता अपने स्रोत अर्थात् लोकसंस्कृति से संबद्ध रहती है तो बाहर से आनेवाली सभ्यता उसके व्यक्तित्व पर आक्रमण करके उसे पराजित नहीं कर पाती। अन्य दशा में जब उच्च सभ्यता का अपने स्रोत से सम्बन्ध नहीं रहता तो उस संघर्ष में नष्ट हुए बल की पूर्ति नहीं होती रहती और धीरे-धीरे वह बलहीन होकर नष्ट हो जाती है। हमारी संस्कृति का प्राचीन और मध्यकाल में बाहर से आई हुई संस्कृतियों को अपने में समाविष्ट कर लेने का रहस्य यही था कि हमारी उच्च सभ्यता अपने स्रोत अर्थात् लोकसंस्कृति से संयुक्त थी। पिछले डेढ़ सौ वर्षों में उच्च सभ्यता का लोकसंस्कृति से यह सम्बन्ध टूट गया और उसी का परिणाम यह हुआ कि एक बाहर से आनेवाली संस्कृति और सभ्यता ने उसके व्यक्तित्व को मिटा डाला और हमें आधुनिक काल अपने सांस्कृतिक विकास के इतिहास में अवनति और पतन का काल जान पड़ता है। मुगल राज्य के अन्तिम सम्राटों और अवध के नवाबों के दरबारों में एक ऐसी बनावटी सभ्यता का जन्म हुआ जिसका मूल देश की लोकसंस्कृति में नहीं था अपितु एक 'गुलो बुल-

बुल, साकी व पैमाना' के काल्पनिक लोक में था जिसको फारस समझा जाता था। उर्दू कविता ने फारस की एक गई-बीती सभ्यता को अपनाया और इस प्रकार एक स्वप्निल कल्पनात्मक संसार का, जिसका स्वयं कवि को भी कोई अनुभव न था, जन्म हुआ। कविगण और दरबारी पुरुष अपने को इसी स्वप्निल संसार का नागरिक समझने लगे और जिस देश के वे वास्तव में नागरिक थे उसकी लोकसंस्कृति से बिलकुल नाता तोड़ लिया। उन दरबारी कवियों की कल्पना से बनाई हुई और दरबारी मुसाहिबों की अपनाई हुई सभ्यता, जो धीरे-धीरे सारी उच्च श्रेणी की सभ्यता हो गई, इतना बल कहां रखती थी कि वह बाहर से आनेवाली सभ्यता का, जिसने अपने स्रोत से कभी नाता नहीं तोड़ा था, मुकाबिला कर सकती। परिणाम यह हुआ कि वह झूठी सभ्यता, जो न हमारे देश की थी, न फारस की, न अरब की परन्तु जो दरबारी कवियों की कल्पनाओं और अन्तिम मुगल-सम्राटों और नवाबों के विश्वास के कारण देश की सभ्यता होने का दावा रखती थी, पाश्चात्य सभ्यता के सामने न टिक सकी और हमने यह निराशाजनक दृष्टिकोण लेना शुरू किया कि आधुनिक काल हमारी संस्कृति और सभ्यता के पतन का काल है। हम हताश हैं कि हमारी संस्कृति को एक बाहर से आनेवाली संस्कृति ने पराजित किया। वास्तव में जो सभ्यता इस संघर्ष में पराजित हुई वह हमारी सभ्यता कब थी! हमारी सभ्यता तो और ही कहीं सुरक्षित है।

आज हमारे समाज के उच्चवर्ग की सभ्यता उसी बनावटी दरबारी सभ्यता और बाहर से आनेवाली पाश्चात्य सभ्यता का मिला-जुला एक विकृत रूप है। अपनी वर्तमान सभ्यता का यह विकास हमें अपनी आधुनिक जागृति के प्रकाश में बहुत ही भद्दा मालूम पड़ता है। उसके स्वरूप को फिर से उसकी अपनी पिछली छटा से सुशोभित करने की आवश्यकता है, उसे सदैव संबल बनाये रखने के लिये उसे सभ्यता के अजस्र स्रोत लोकसंस्कृति से सम्बन्धित रखने की आवश्यकता है।

शायद यह कहा जाय कि लोकसंस्कृति के प्रति जागृति तो अब से कितने वष पहिले प्रारम्भ हो चकी है और हमने लोकगीतों मेंपर्याप्त

अभिरुचि दिखाना शुरू कर दिया है। वेरियर एलविन और देवेन्द्र सत्यार्थी-जैसे लोक-संस्कृति-प्रेमियों ने इन लोकगीतों के संग्रह का कार्य संभाल रक्खा है। इस विषय में मुझे दो बातें कहनी हैं। एक तो यह कि जो अभिरुचि हम लोकगीतों के प्रति दिखाते हैं वह उपयुक्त नहीं। हम उन्हें कुछ अनोखी चीज समझकर केवल अपने मनोरंजन की सामग्री समझते हैं। ग्रामीणों की एक टोली को या उनके नृत्य और संगीत को हम उसी दृष्टि से देखते हैं जिससे कुछ दिन पहले अंगरेज लोग हमारे भारतीय जीवन को देखा करते थे या जिस दृष्टि से हैजलिट ने एक हिन्दुस्तानी मदारी के खेल को देखा होगा। जिस प्रकार वे अंग्रेज 'नेटिव' लोगों के जीवन में उसे एक अनोखी वस्तु जानकर दिलचस्पी लेते थे पर अपने को उस जीवन से दूर और उसके वातावरण से अलग एक उच्च वातावरण में होने का विश्वास रखते थे उसी प्रकार हमारे सुशिक्षित नगरनिवासी ग्रामीणों के जीवन और उनके नृत्य और संगीत को देखते हैं। रेडियो के प्रोग्राम में हमारा पंचायतघर इसलिये नहीं पसन्द किया जाता कि उसमें हमें अपनी सच्ची संस्कृति का स्वरूप देख पड़ता है पर इसलिये कि फिल्मी गानों के बाद पंचायतघर के लोकगीत अपनी भिन्नता से हमें रोचक जान पड़ते हैं। शायद उन्हें सुनते और उनसे आनन्द लेते समय भी हम अपने को मन ही मन सराहते रहते हैं कि हम अपनी शिक्षा, अपनी सभ्यता और अपनी नागरिकता के फलस्वरूप इस देहातीपन से सुरक्षित हैं। मैंने यह भी देखा है कि वे सज्जन जो स्वयं ग्रामीण हैं या रह चुके हैं यदि ऐसी सभा में उपस्थित होते हैं जिसमें अधिकांश नगरनिवासी ही हों और कोई ग्रामीण जीवन का विषय वाद-विवाद में आ जाता है तब या तो वे उससे एकदम अनभिज्ञता प्रकट करते हैं या कुछ झेंप-से जाते हैं। मेरे कहने का तात्पर्य यह है कि जब तक हम इन लोकगीतों को केवल मनोरंजन की सामग्री समझते रहेंगे और उनको अपनाने का साहस न करेंगे, हमारी उनके प्रति अभिरुचि से कोई सांस्कृतिक लाभ न होगा। हम उन्हें अपनाकर किस प्रकार सांस्कृतिक अथवा साहित्यिक लाभ उठा सकते हैं, अगले पृष्ठों में निरूपित किया जायगा।

दूसरी बात जो मुझे कहनी है वह यह है कि लोकसंस्कृति केवल लोकगीतों में ही नहीं सुरक्षित है उसके और भी अन्य रूप हैं। लोकगाथायें, सामाजिक लोकरीतियां, नृत्य-त्योहारों के समय की रीतियां आभूषणों और वस्त्रों में लोक-कला का प्रदर्शन, त्योहारों अथवा शादी-ब्याह के समय की स्त्रियों की चित्रकारी इत्यादि-इत्यादि इन सबमें हमारी लोकसंस्कृति का प्रदर्शन है और इन सबको समय बड़ी तीव्र गति से नष्ट कर रहा है। लोकगीतों की ओर तो कुछ अभिरुचि देखने में आने लगी है परन्तु उपर्युक्त अमूल्य सांस्कृतिक सामग्री का कोई संग्रह या संरक्षण नहीं हो रहा है।

हम लोकगीतों और लोकसंस्कृति को व्यक्त करनेवाली अन्य सामग्री के संग्रह तथा संरक्षण का विशेष प्रयत्न क्यों आवश्यक समझते हैं ? इसलिये नहीं कि संग्रहालयों म शीशे की अलमारियों में सजाकर रक्खे जायं और देशी तथा विदेशी दर्शकों की तृष्णा-तृप्ति करें, न हम उन्हें इसीलिये संग्रह करना चाहते हैं कि उनसे ऐतिहासिकों को भूत-निर्माण के लिये सामग्री उपलब्ध हो सके, हमारा उद्देश्य केवल नेत्रों और कानों का मनोरंजन या गये-बीते भूतकाल की छाया को अपनी ऐतिहासिक जिज्ञासा शान्त करने के लिए करना नहीं है। हम इस सामग्री का संग्रह और संपादन भूतनिर्माण के निमित्त नहीं, भविष्य-निर्माण के लिये करना चाहते हैं ताकि उसकी स्फुरणा से हमारी वास्तविक सभ्यता, जो नष्ट नहीं हुई है केवल पीछे पड़ गई है, फिर से हमारे जीवन में अपना उचित स्थान ले सके। शायद यह शंका प्रस्तुत की जाय कि यह निर्जीव सामग्री हमारी संस्कृति और सभ्यता को कैसे प्रेरित कर सकती है। मैं इस शंका का समाधान केवल वादविवाद में न करके कुछ उदाहरण ऐसे दूंगा जिनसे स्वयं स्पष्ट हो जायगा कि जब-जब संस्कृति की जागृति अथवा सभ्यता की उन्नति हुई है तब-तब इस निर्जीव सामग्री ने ही कवियों, कलाकारों और सिद्धान्त-निर्माताओं को, जो सभ्यता के रचयिता हैं, सजीव विचार प्रदान किये हैं। मैं एक उदाहरण संगीत-शास्त्र से दूंगा। पिछली शताब्दी के मध्य में जब भारतीय संगीतकला रूढ़ियों में बंध गई थी और उसमें किसी नई शैली की उत्पत्ति असम्भव

जान पड़ती थी, जैसे गांधर्व विद्या का अन्त ही हो गया हो, उस समय ललनपिया और छोहनपिया जैसे संगीतज्ञ कलाकारों ने अपने कलात्मक सहज बोध से काम लेकर मिर्जापुर और बनारस इत्यादि के ग्रामों का भ्रमण करके वहां के लोकगीतों से ठुमरी और दादरा की नई शैली की अभिवृद्धि की और इस प्रकार गांधर्व विद्या का पुनर्जन्म हुआ और उनकी शैली के आधार पर संगीतशास्त्र ने बड़ी उन्नति की। नृत्य में, कला में, चित्रकारी में नई-नई शैलियां सदैव लोककलाओं से ही उद्भूत हुई हैं। कविता और साहित्य के विकास में भी लोकसाहित्य सदैव बड़े-बड़े विचारों और बड़ी अनुपम शैलियों का उद्गम रहा है। गोस्वामी तुलसीदासजी का रामललानहछू, सूरदासजी की पदावली, कबीरदासजी की बानी, मीराबाई के भजन केवल कुछ उदाहरण हैं उस विशाल भावुकता के जो लोकगीतों में भरी पड़ी हैं और जो अपने प्रभाव से बड़े-बड़े कवियों में काव्य-सरसता अनुप्राणित कर सकती हैं।

ये उदाहरण केवल भारतवर्ष ही के साहित्यिक और सांस्कृति इतिहास में नहीं मिलते वरन् संसार के समस्त देशों के साहित्यिक और सांस्कृतिक विकास में पाये जाते हैं और इस कथन की पुष्टि करते हैं कि जब किसी जाति का साहित्य, संस्कृति और सभ्यता अवनति की ओर अभिमुख होते हैं उस समय उस जाति की लोकसंस्कृति ही उसे विनाश से रोक सकती है। ग्रीस में महाकवि होमर ने एक लोकगाथा को महाकाव्य का रूप दिया। उसके पश्चात् ग्रीक-नाटककारों ने उसके महाकाव्य की स्फुट घटनाओं पर अपनी रचनाओं को निर्धारित करना आरम्भ किया। उनकी काव्य-कल्पना होमर की कल्पना की सीमा से परे जाने का सामर्थ्य न रखती थी। ऐसा जान पड़ता था कि ग्रीक-काव्य अथवा काव्यपूर्ण साहित्य का अब कोई विकास सम्भव नहीं और वह गतिरुद्ध होकर रह गया है। भाग्यवश उस समय थियोक्राइट्स की साहित्यिक और सांस्कृतिक सहज बुद्धि ने उसके ध्यान को लोकसंस्कृति की ओर आकृष्ट किया। उसने ग्रामीण जीवन का स्वयं अनुभव करना आरम्भ किया। चरवाहों का वेश बनाकर चरवाहों के साथ रह-रहकर उनके लोकगीतों से उसने एक नई काव्यधारा और शैली की रचना

की जिसने ग्रीस, रोम, फ्रांस और इंग्लैंड में सैकड़ों वर्षों तक काव्यकला के सौन्दर्य प्रस्तुत किये। इसी प्रकार इंग्लैंड में जब सोलहवीं शताब्दी में अंगरेजी-साहित्य और काव्य का पुनर्जागरण (Renaissance) हुआ प्रत्यक्ष रूप में वह पुनर्जागरण प्राचीन ग्रीक और लैटिन साहित्यों के प्रभाव का परिणाम प्रतीत होता है। परन्तु वास्तव में उस काल के अंगरेजी-साहित्य व काव्य का गौरव उन विदेशी भाषाओं और साहित्यों के प्रभाव का परिणाम न था। महाकवि स्पेन्सर ने, जो उस काल का सर्वप्रथम कवि था, अपनी पहली रचना में बारामासा के आधार पर चरवाहों का जीवन चित्रित किया है। फिर जब अठारहवीं शताब्दी के मध्य में अंगरेजी-कविता रूढ़ियों में पड़कर निष्प्राण हो गई तो लोक-साहित्य ने ही उसे उस पतन -गर्त्त से निकालकर रोमान्स के मार्ग पर डाला। बिशप परसी ने लोककाव्य के "बैलेड" का संग्रह किया और इस संग्रह का उन्नीसवीं शताब्दी की रोमान्टिसिज्म को जन्म देने में कितना भाग है अंगरेजी-कविता के इतिहास से मामूली परिचय रखनेवाला व्यक्ति भी जानता है।

सांस्कृतिक और साहित्यिक पुनजागरण (Renaissance) का एक मूल सिद्धान्त है। पहले कुछ कारणों से (जैसे रूढ़ियों का अधिक बलवान् हो जाना या धर्म की हठधर्मियों का कविता व साहित्य पर प्रतिबन्ध लगा देना) साहित्य एक अंधकूप में पड़ जाता है। फिर इस अंधकार में किसी बाहय साहित्य के प्रभाव से प्रकाश होता है और वह जाति, जिसका साहित्य अंधकार में खो गया था, जागृत होती है और उस बाहरी साहित्य की कृतियों को विस्मित होकर देखती है और उसकी साहित्यिक कल्पना केवल इतनी ही होती है कि उस बाहय साहित्य को आदर्श जानकर उसी की सराहना और उसी का अनुकरण करे। यह काल पचास से सौ वर्ष तक का हो सकता है और इसकी कृतियां कोई महान् साहित्य तो नहीं पैदा करतीं, पर वे वृथा भी नहीं कही जा सकतीं क्योंकि उन्हीं से यह ज्ञान उत्पन्न होता है कि पराये साहित्य के विचार कभी अपने नहीं हो सकते। विचारों का सम्बन्ध जाति के चरित्र से होता है और हर जाति का अपना-अपना अलग-अलग चरित्र होता

है और उसी प्रकार उनकी पृथक्-पृथक् विचारधारा भी होती ह । एक जाति की विचारधारा दूसरी जाति में विचारों की जागृति कर सकती है, पर स्वयं उस जाति की विचारधारा नहीं बन सकती । इस अनुभव का परिणाम यह होता है कि बाह्च साहित्य के प्रभाव से जागृत हुई जाति उस बाह्च साहित्य की सराहना और उसके अनुकरण से मुक्त होकर अपनी साहित्यिक विचारधारा का स्रोत अपनी लोकसंस्कृति में ढंढ़ती है और वहीं से सच्चे मौलिक अथवा जातीय साहित्य की मल स्थापना होती है ।

जिस मत का ऊपर उल्लेख हुआ है उसकी संपुष्टिमें कुछ विस्तृत उदाहरण आवश्यक जान पड़ते हैं। सोलहवीं शताब्दी में इंग्लैंड में लैटिन और ग्रीक साहित्यों क प्रभाव से मध्यकालीन अंधकार में प्रकाश हुआ और इंग्लैंड की साहित्यिक प्रेरणा, जो ईसाई धर्म की हठधर्मियों के अंकुश के नीचे एक मृतावस्था में पड़ी हुई थी, फिर से जागृत हुई । वैसे मध्यकाल में भी इंग्लैंड में लैटिन के विद्वान् थे, पर उन्हें धर्मसिद्धान्त और साम्प्रदायिकता के बाहर किसी साहित्यिक, काव्यात्मक अथवा आध्यात्मिक विषय पर अपने विचार या कल्पनाओं को प्रकट करने की आज्ञा न थी । जब पुनर्जागरण के प्रभाव से यह प्रतिबन्ध हटा तो पहले तो अंग्रेज विद्वान् और लेखक उन्ही प्राचीन लैटिन और ग्रीक कृतियों की सराहना और उनके अनुकरण में लग गये । उन्हें विश्वास न होता था कि वे भी अपनी कल्पना तथा अपने विचार से वैसी ही साहित्यिक कृतियां उत्पन्न कर सकते हैं । इसके अतिरिक्त उन्हें अपनी भाषा पर भी अविश्वास था कि वह साहित्यिक विचारों और कल्पनाओं के बोझ को उठा भी सकेगी या नहीं । उन्होंने लैटिन भाषा म लिखना आरम्भ किया । सर टामस मोर ने अपनी प्रसिद्ध पुस्तक "यूटोपिया" को लैटिन में लिखा । बेकन ने, जो पुनर्जागरण-काल के बिल्कुल मध्य में हुआ है, अपनी आध्यात्मिक और वैज्ञानिक कृति ों की रचना या तो लैटिन में की या उन्हें लैटिन में अनुवाद किया और एक भूमिका में ऐसा करने का यह कारण बताया कि अंगरेजी भाषा में विचार प्रकट करने की इतनी शक्ति नहीं कि वह अपने

विचार उसे सौंप सके। इसके अतिरिक्त उसकी यह भी भावना थी कि उसके विचार सारे योरोप में विस्तीर्ण हों और अंगरेजी भाषा से ऐसी आशा रखना व्यर्थ था। यह केवल बेकन का ही नहीं, उस समय के सारे विद्वानों और लेखकों का विचार था। उनकी समझ में यह न आता था कि यदि वे अपनी भाषा को साहित्यिक कृतियों से परिपूर्ण कर देंगे तो अन्य लोग उन्हीं के कारण अंगरेजी भाषा सीखेंगे, जैसे अंगरेजों ने लैटिन लेखकों का आनन्द लेने के लिये लैटिन सीखी थी। भाषा अपनी साहित्यिक सम्पत्ति से स्वयं अपना प्रचार कर लेती है। जब तक यह लैटिन की सराहना का काल इंगलेंड में रहा अंगरेजी भाषा साहित्यिक आभूषणों से वंचित रही। जब अंगरेज लेखकों को यह अनभव हुआ कि वे पराई भाषा और पराये विचारों को अपना नहीं बना सकते और वे कितना ही परिश्रम करें, ग्रीक और लैटिन में डेमास्थनीज और सिसेरो की शैली की धूल भी नहीं पा सकते, तब उन्होंने अपने देश की संस्कृति में साहित्यिक विचारों की खोज करना और अपनी जातीय भाषा में उन्हें प्रकट करना आरम्भ किया। जब तक वे दूसरी भाषाओं और साहित्यों की विशालता से विस्मित रहे और अपनी भाषा और संस्कृति पर अविश्वास करते रहे। अपनी सारी विद्वत्ता और परिश्रम की सहायता से भी वे कुछ न कर सके। केवल विचारपूर्ण साहित्य ही में नहीं, हार्दिक भावों के साहित्य अथवा कविता में भी उन्हें विश्वास न ा कि उनके हृदय भी वैसे ही भावों का अनुभव करने की शक्ति रखते हैं। उन्हें सन्देह था कि वे भी ऐसे आसक्त प्रेमी हो सकते हैं जैसे पीट्रार्क और अन्य इटालियन और फ्रेंच कवि थे इसलिये वे पीट्रार्क के प्रणय-काव्यों का अनुवाद करके अपने प्रेम को प्रकट किया करते थे। ऐसी मनोवृत्ति से कभी कोई उच्च कोटि का साहित्य उत्पन्न नहीं हुआ है। उच्च साहित्य का जन्म तब हुआ जब अंगरेज-कवियों में देशभक्ति और देश की लोकसंस्कृति के प्रति प्रेम जागृत हुआ और जब स्पेन्सर ने एक अंगरेजी लोकगाथा को अपने महाकाव्य का आधार बनाया।

इसी प्रकार अठारहवीं शताब्दी के मध्य में फिर अंगरेजी साहित्य लेटिन और ग्रीक के प्रभाव में आ जाने के कारण रूढ़ियों में पड़कर शिथिल हो गया। अंगरेज कवि लैटिन और ग्रीक लेखकों के सिद्धान्तों पर चलने में अपना विशेष गौरव समझने लगे। इस रूढ़िग्रस्त अवस्था से अंगरेजी कविता को निकालने की प्रक्रिया का प्रारम्भ कहा जाता है कि रूसो की क्रान्तिकारी विचारधारा से हुआ। उन्नीसवीं शताब्दी की अंगरेजी कविता का रोमांटिसिज्म जागृत करने में रूसो का कितना भाग था, हमें इस विवाद में नहीं पड़ना है, पर जिस बात की ओर हम विशेषरूप से ध्यान आकर्षित करना चाहते हैं वह यह है कि अंगरेजी रोमांटि-सिज्म को जन्म देनेवाली रूसो की विचारधारा नहीं वरन् उन अंग्रेजी कवियों की वे कृतियां हैं जिनमें उन्होंने लोक संस्कृति और लोक साहित्य से प्रेरणा ग्रहण की है। विशप पर्सी का 'बैलेडो' का संग्रह, 'थाम्सन' का ऋतु-वर्णन, ग्रे की Elegy और 'बार्ड' यह समस्त काव्य रचनाएं जो लोक-संस्कृति पर आधारित हैं अंगरेजी रोमनी युग को प्रवर्तक हैं।

इन उदाहरणों का उल्लेख इतने विस्तार से एक विशेष अभिप्राय स किया गया है। आज हमारा देश उसी अवस्था में से गुजर रहा है जिसमें से इंगलैंड सोलहवीं शताब्दी में गुजरा था। जिस प्रकार सोलहवीं शताब्दी में इंग्लैंड में लैटिन और ग्रीक साहित्यों के प्रभाव से जागृति हुई थी उसी प्रकार वर्तमान काल में हमारे देश में अंगरेजी-साहित्य के प्रभाव से जागृति हुई है। जब पहले-पहल हमने अंगरेजी कवियों, नाट्यकारों, ऐतिहासिकों और अन्य लेखकों की रचनाओं का अध्ययन किया तो हम उनकी विशालता से विस्मित रह गये और उनकी सराहना करने लगे। फिर जब हममें कुछ साहित्यिक भावना उत्पन्न हुई तो हमने उनका उन्हीं की भाषा में अनुकरण करना आरम्भ किया। यह जागृति की दूसरी अवस्था थी और इसके प्रभाव से हम अब कुछ कुछ मुक्त होने लगे हैं। जिस प्रकार सोलहवीं शताब्दी के अंगरेज-लेखकों ने

लगभग एक शताब्दी के अनवाद व अनुकरण क पश्चात् यह अनुभव किया था कि वे अपने सारे परिश्रम के अतिरिक्त भी ग्रीक और लैटिन के महान् लेखकों की उनकी भाषाओं में समता नहीं कर सकते, उसी प्रकार हमने भी अब यह अनुभव करना आरम्भ किया है कि न तो अंगरेजी भाषा हमारी हो सकती है और न अंगरेज-लेखकों के विचार। हमें विचारों के लिये अपनी ही भूमि और अपनी लोक-संस्कृति में खोज करनी है और उनकी अभिव्यक्ति के लिये अपनी भाषा में वह गम्भीरता उत्पन्न करनी है जिसे हम अंगरे ी भाषा में सराहनीय मानते हैं ।

साहित्यिक व आध्यात्मिक विचारों और भावों का उस जाति से, जिसमें वे उत्पन्न होते हैं, एक विशेष सम्बन्ध होता है । वे विचार और भाव जाति के चरित्र में ओतप्रोत होते हैं और जातीय चरित्र स्वयं देश की भौगोलिक अवस्था, जलवायु, प्राकृतिक रचना अथवा खाद्य-पदार्थों से बनता है । यह अवस्थायें भिन्न-भिन्न देशों में भिन्न-भिन्न हैं और इसी कारण उनका जातीय चरित्र भी भिन्न होता है और उनकी विचार-धारा में मौलिक भेद होते हैं। एक जाति के विचार अपने संसर्ग से दूसरी जाति में विचार-जागृति कर सकते हैं पर स्वयं दूसरी जाति के विचार नहीं बन सकते। अंग्रेजी साहित्य और सभ्यता ने अपने सम्पर्क से हममें जागृति उत्पन्न की, इसके लिये हम उसके सदैव अनुगृहीत रहेंगे। पर हममें ऐसी भावना कि अंग्रेजी साहित्य और सभ्यता हमारे साहित्य और सभ्यता बन जायँ, कोई अच्छे परिणाम नहीं पैदा कर सकती। हमें अपना साहित्य अथवा अपनी सभ्यता की स्वयं रचना करनी पड़ेगी और उसके लिये उचित और अपेक्षित सामग्री हमें अपनी लोक-संस्कृति में मिलेगी।

केवल साहित्यिक और सांस्कृतिक विचारों तक ही हमारा उपर्युक्त मत सीमित नहीं है। उन विचारों की अभिव्यक्ति के लिये हमें भाषा-निर्माण भी उसी रीति से करना होगा। इस सम्बन्ध में मैं महाकवि स्पेन्सर की सर्वप्रथम काव्य-रचना "शैफ्हर्ड कैलेन्डर" की भूमिका से एक अवतरण उद्धृत करूंगा। स्पेन्सर के समय में अंगरेजी

भाषा को साहित्यिक भाषा बनाने की उसी प्रकार की समस्या थी, जैसी हमारे सामने अपनी भाषा के विषय में है। अंग्रेजी भाषा में अपेक्षित शब्दकोष उस समय न था। विद्वान् लेखकों का मत था कि जहां कहीं ऐसे शब्द की आवश्यकता हो जो अंगरेजी भाषा म उपलब्ध न हो तो उसे लैटिन या किसी आधुनिक समृद्ध योरोपियन भाषा से ले लिया जाय' स्पेन्सर ने इस विषय में बड़ी गम्भीर सूझ सुझाई है। वह लिखते हैं :—

"अपनी भाषा की इस त्रुटि की पूर्ति के लिय अन्य भाषाओं के पेबन्द लगाकर उसके छिद्र बन्द करने का प्रयास—कहीं फ्रेंच से कहीं इटालियन से और यत्र-तत्र लैटिन से शब्द मांगने में उन्होंने (अन्य कवियों ने) इस बात की ओर ध्यान न दिया कि वे भाषायें स्वयं एक दूसरे से कितनी कम समता रखती हैं और हमारी भाषा से और भी कितनी कम। उन्होंने हमारी भाषा को अन्य भाषाओं की खिचड़ी बना डाला है।"

अपने सहयोगी कवियों का विरोध करत हुए स्पेन्सर ने जातीय भाषा की आधारशिला लोकभाषा में प्रतिष्ठित की। आज हमारे सामने भी वही समस्या उपस्थित है और प्रायः उसका वही समाधान किया जाता है जिसका स्पेन्सर ने विरोध किया था। हमें भी सबसे सरल मार्ग यही जान पड़ता है कि जहां शब्दों की आवश्यकता हो हम अंगरेजी के सामने हाथ फैला दें। केवल यही नहीं, यह भी कहा जाता है कि एक जीवित और प्रगतिशील भाषा का चिह्न यही है कि वह अपने में दूसरी भाषाओं के शब्दों को स्थान दे सके। अंगरेजी भाषा स्वयं अपने में हर वर्ष अनेकों दूसरी भाषाओं के शब्दों को समाविष्ट करती रहती है। हमें भाषाओं में भेद और साम्प्रदायिकता नहीं पैदा करनी है। हम इसका भी निषेध नहीं करते कि दूसरी भाषाओं के शब्दों को अपनी भाषा में स्थान दिया जाय। हमें केवल भाषा-निर्माण के एक मौलिक सिद्धान्त की ओर ध्यान आकर्षित करना है और वह सिद्धान्त यह है कि अन्य भाषाओं के शब्दों को स्थान उसी अवस्था में दिया जाय, जब हमारी भाषा के स्रोत किसी विचार के लिये उचित

शब्द न प्रस्तुत कर सकें। भाषा के वैज्ञानिक क्षेत्रों में प्रायः हम अपनी लोकभाषा में पर्याप्त शब्द न मिल सकेंगे, पर साहित्यिक और सांस्कृतिक विचार जितनी अच्छी तरह देश की लोकभाषा से उत्पन्न हुए शब्द प्रकट कर सकते हैं, दूसरी भाषा के शब्द नहीं कर सकते। वैज्ञानिक विचारों में व्यक्तित्व नहीं होता, इस कारण किसी भाषा के वैज्ञानिक शब्द और परिभाषाएँ किसी भी दूसरी भाषा में प्रयोग में आ सकती हैं। पर साहित्यिक और सांस्कृतिक विचारों में एक गहन व्यक्तित्व होता है और उनकी अभिव्यंजना उसी जाति की अपनी भाषा में ही हो सकती है, जिसके हृदय से वे विचार उत्पन्न हुए हों। हमें अपनी साहित्यिक अथवा सांस्कृतिक भाषा के लिये लोकभाषा और लोकसंस्कृति के स्रोतों की खोज करनी आवश्यक है। ग्राम्य भाषा ों में कितने ही भावपूर्ण शब्द भरे पड़े हैं, जिनके समतुल्य अगाध काव्य-कल्पना भी नहीं उत्पन्न कर सकती। परन्तु खेद की बात है कि हम उन शब्दों से अनभिज्ञ हैं, वे कभी हमारी श्रुति में भी नहीं आये हैं। उनकी खोज करने और उन्हें अपनी साहित्यिक भाषा में स्थान देने से हमारी भाषा तथा हमारे साहित्य दोनों में असीम उन्नति की आशा है।

यह संपादकीय परिचय संभवतः अपनी उचित सीमा का अति-क्रमण कर गया है। पर इसमें एक व्यापक विषय के जिन विभिन्न विभागों की ओर ध्यान आकृष्ट करना था, उनकी ओर केवल संकेतमात्र ही किया जा सका है, क्योंकि इस परिचय का उद्देश्य विचार जागृत करना था जिज्ञासा का शमन नहीं। यदि पाठकों का ध्यान इन समस्याओं की ओर आकृष्ट हो सके तो मैं अपने प्रयास को सफल समझूंगा। इसी सम्बन्ध में एक अन्य महत्त्वपूर्ण विषय का निर्देश भी अप्रासंगिक न होगा। शायद प्रथम दृष्टि में इन शाश्वत सत्यों के समक्ष वह विषय केवल क्षणिक एवं सामयिक प्रतीत हो, परन्तु गंभीर दृष्टि से देखने पर ज्ञात होगा कि यह विषय भी वास्तव में क्षणिक नहीं, उप-र्युक्त अन्य विषयों के समान है। वह विषय है शरणार्थी-समस्या और उसका लोकसंस्कृति से सम्पर्क। पाठकों को प्रायः आश्चर्य

होगा कि शरणार्थी-समस्या का लोकसंस्कृति से क्या सम्पर्क हो सकता है और हमारी लोकसंस्कृति सभा जैसी संस्था और उसके प्रयत्न इसके निराकरण में क्या सहायता कर सकते हैं ? शायद इसी अविश्वास के परिणामस्वरूप आज तक इस समस्या को आर्थिक, सामाजिक, राजनैतिक और नैतिक सभी दृष्टियों से देखा गया है और देखा जाता है, पर उसे सांस्कृतिक दृष्टि से कभी नहीं देखा गया । मेरा विश्वास है कि इस समस्या के समाधान का कोई भी प्रयास जो सांस्कृतिक दृष्टिकोण को बिल्कुल छोड़ देता है, कभी भी पूर्णरूप से सफल नहीं हो सकता ।

शरणार्थी-समस्या को प्रायः वर्त्तमान और निकट भविष्य की सीमाओं में बद्ध करके ही देखा जाता है, जैसे इन शरणार्थियों के लिये रहने के घर, खेती करने के लिये भूमि या व्यवसाय के लिये दूकानें मुहैया करने से ही यह समस्या हल हो जायगी। इस समस्या से उत्पन्न होनेवाली दूसरी समस्याओं की ओर ध्यान नहीं दिया जाता । ये समस्याएं जिनकी ओर यहां ध्यान आकृष्ट किया जा रहा है, गंभीर सांस्कृतिक समस्याएँ हैं और केवल शरणार्थियों को आर्थिक व राजनैतिक सुविधाएँ प्रदान करने से उनका समाधान न हो जायगा । राजनैतिक और आर्थिक समस्याएँ तो क्षणिक और सामयिक ही हैं, परन्तु यह सांस्कृतिक समस्या, जिसकी ओर अभी तक ध्यान ही नहीं दिया गया है, एक बड़ी व्यापक समस्या है ।

प्रायः शरणार्थियों में उनकी विपत्ति और हमारी सहानुभूति की अपेक्षा एक वैमनस्य-भाव देखने में आता है । इस भाव का कारण केवल इस ईर्षा में ही नहीं है, जो उनके हृदयों में अपनी दीन दशा और हमारे ऐश्वर्य की तुलना से उत्पन्न होनी स्वाभाविक है । उसका मूल कारण शरणार्थियों के इस विश्वास में है कि उनमें इस प्रान्त के मूल वासियों की अपेक्षा कहीं उच्चकोटि की सभ्यता है । वे इस प्रान्त की शिक्षित और सभ्य जनता को भी बहुत कुछ उसी दृष्टि से देखते हैं, जिससे हम नगरनिवासी अपने ग्रामीण भाइयों को देखते हैं । उनका यह विश्वास कहां तक सच्चा है, हम इस विवाद में न पड़ेंगे । हां, इस विश्वास को उनके

मन में उत्पन्न करने का उत्तरदायित्व थोड़ा-बहुत हम पर अवश्य है। हमने उन्हें शरणार्थी कहकर अपनी सहानुभूति का परिचय देना चाहा था, पर उस अभागे शब्द ने उनके हृदय में विपरीत भावों को जागृत कर दिया। उन्हें हमसे शिकायत है कि हमने उनको ऐसा तिरस्कारजनक सम्बोधन क्यों दिया। शरणार्थी शब्द के स्थान पर पुरुषार्थी शब्द के प्रयोग पर जोर दिया जाना ही इस बात को विदित करता है। यहां इतना कह देना आवश्यक जान पड़ता है कि यह दूसरा शब्द भी त्रटिरहित नहीं है। इसका अभिप्राय तो यह है कि हम शरणार्थियों में पुरुषत्व की मर्यादा को जागृत करें। पर इसका परिणाम यही होगा कि उस सांस्कृतिक और सभ्य श्रेष्ठता के विश्वास की, जिसे वे स्वयं अपने साथ लाये हैं, और भी पुष्टि होगी, और शरणार्थियों तथा मूलवासियों में वैमनस्य-भाव बढ़ता ही जायगा।

शरणार्थियों की राजनैतिक और आर्थिक समस्याओं और कठिनाइयों के समाधान के पश्चात् सांस्कृतिक समस्याएं, जिनका मूल शरणार्थियों के उपर्युक्त विश्वास में है, पूर्ण रूप से विकसित होंगी। शहरों में या गाँवों में जहां कहीं भी शरणार्थी अपनी वर्त्तमान कठिनाइयों से मुक्त होकर आर्थिक स्वाधीनता प्राप्त करके स्थायीरूप से बसेंगे तो वे अपनी सांस्कृतिक श्रेष्ठता के विश्वास के अधीन अपने को सदैव मूलवासियों से अलग ही समझेंगे। मूलवासियों के मध्य में उनके टापू बन जायेंगे और वे सांस्कृतिक दृष्टि से अपने को बिल्कुल अलग ही समझेंगे। इस पृथक्त्व के कितने भीषण परिणाम हो सकते हैं, वर्तमान काल ही की निशिदिन की घटनाओं से विदित होते हैं। जहां कहीं से भी मूलवासियों और शरणार्थियों में झगड़े का समाचार मिलता है उसका मूलकारण आर्थिक या राजनैतिक नहीं होता, सांस्कृतिक होता है। शरणार्थियों का यह विश्वास कि उनके जीवन में मूलवासियों की अपेक्षा एक उच्चकोटि की सभ्यता है, उनके लिये अपनी वर्तमान दशा पर संतोष करना बहुत ही कठिन बनाता है। इस विश्वास का दूर करना मूलवासियों और शरणार्थियों में मैत्रीभाव उत्पन्न करने

के लिये अत्यन्त आवश्यक है और यह केवल लोकसंस्कृति की उचित शिक्षा ही से संभव है ।

लोकसंस्कृति की शिक्षा इस पृथक्त्व के भाव को कैसे हटा सकती है, यह सिद्ध करने के लिये किसी गंभीर युक्ति की आवश्यकता नहीं है । केवल वह कुछ वाक्य, जो इस परिचय के आरंभ में लिखे जा चुके हैं, पुनः स्मरण कराने से ही इस मत की सत्यता प्रतीत हो जायगी। किसी सभ्यता का पूर्ण अनुभव करने के लिये उस सभ्यता की लोकसंस्कृति का अध्ययन करना आवश्यक है। पंजाब और सिंध से आये हुये शरणार्थियों में हमारी सच्ची सभ्यता के समझने की मनोवृत्ति तभी उत्पन्न होगी, जब उनको हमारी सच्ची लोकसंस्कृति से घनिष्ठ परिचय कराया जायगा । अभी तो शरणार्थी–जन अपनी आर्थिक दशा संभालने में लगे हैं। वे किसी प्रकार मूलवासियों के सम्पर्क में रहने के लिए स्वयं अपने लाभ को दृष्टि में रखते हुएप्रयत्नशील हैं। जब वे इस आर्थिक पराधीनता से मुक्त हो जायंगे, तब उनमें अपनी सभ्यता के मूलवासियों की सभ्यता से श्रेष्ठ और पृथक् होने की प्रवृत्ति अधिक जागृत होगी और उस समय सामाजिक समस्याएं उठेंगी । उनके निराकरण का हमें अभी से प्रयत्न कर रखना है । और इस विषय में कोई भी प्रयत्न इतना सफल नहीं हो सकता, जितना सांस्कृतिक शिक्षा के लिये लोकसंस्कृति की सामग्री का संग्रह, संरक्षण और संपादन है ।

इसके अतिरिक्त एक बात और भी है । हमारी और शरणार्थियों की वर्तमान सभ्यताएं पृथक्-पृथक् इसलिये जान पड़ती हैं कि पिछले दो सौ वर्षों में उनका विकास लोकसंस्कृति से अलग रहकर हुआ है । जब तक हमारी उच्चकोटि की सभ्यता लोकसंस्कृति से सम्बंधित रही, यह सभ्यताओं का पृथक्त्व उत्पन्न नहीं हुआ । हम ऊपर कह चुके हैं कि सभ्यता के रूप में जो कुछ हमने पिछले दो-सौ वर्षों में ग्रहण किया है, उसमें से बहुत कुछ त्यागने की आवश्यकता है । इन दो शताब्दियों के अनुभव में सबसे मूल्यवान् वस्तु हमारी जागृति है । अब इस जागृति के पश्चात हमारी सभ्यता, हमारे साहित्य, हमारे जीवन की पुनः रचना लोकसंस्कृति के प्रभाव के अधीन होनी चाहिए। यदि यह

सिद्धान्त मूलवासियों तथा शरणार्थियों, दोनों की आधुनिक सभ्यताओं पर लगाया जाय तो दोनों की सभ्यताएं एक समान ो जायँगी; क्योंकि उनकी लोकसंस्कृति एक है।

सन् १९४६ में सर सीताराम एम्० ए०, डी० लिट् (सम्मानित), सभापति संयुक्तप्रान्तीय व्यवस्थापिका सभा की अध्यक्षता में लोक-संस्कृति सभा (Ethnographic and Folk Culture Society) की स्थापना हुई और तब से वह निरन्तर इस दिशा में कार्य कर रही है। उस संस्था की समय-समय पर बैठकें होती रहती हैं, जिनमें यह निश्चय हुआ है कि उत्तर भारत के सामाजिक और आर्थिक जीवन की गवेषणा की जाय और संयुक्तप्रान्त में पाई जानेवाली जातियों और उपजातियों का विस्तृत विश्लेषण किया जाय। उसके साथ ही यह योजना भी बनाई गई कि लोकजीवन से संबंध रखनेवाली वस्तुओं का--जैसे संगीत, गीत, चित्र, कथाएँ, आभूषण और ऐसी वस्तुएँ जिनसे रीति-रिवाज के विषय में कुछ मालूम हो सके, संग्रह और संपादन किया जाय, उन्हें पुस्तकाकार में प्रकाशित किया जाय या म्यूजियम में सुरक्षित रक्खा जाय। समय और परिस्थितियां इस सामग्री को बड़ी तीव्र गति के साथ नष्ट कर रही हैं इसलिये यह कार्य शीघ्र ही किया जाना चाहिए।

यह संस्था लोकजीवन संबंधी कार्य को आगे बढ़ाने के लिये निरन्तर प्रयत्नशील है। इस विषय में रुचि रखनेवाले विद्यार्थियों को आर्थिक सहायता देकर लखनऊ विश्वविद्यालय के तत्वावधान में देश के उन भागों में, जिनका उन्हें विशेष ज्ञान हो और जिनकी संस्कृति से वे परिचित हों, संग्रहकार्य पर भेजा जाता है। सन् १९४६ में दो रिसर्च-विद्यार्थियों को आर्थिक सहायता देकर संस्था ने गढ़वाल और कुमायूं के निवासियों और उनके जीवन के सम्बन्ध में खोज करने के लिये नियुक्त किया।

सन् १९४७ में संस्था ने प्रान्त के लोकगीतों का सग्रह करने का कार्य आरम्भ किया। इस योजना को कार्यान्वित करने के लिये प्रांत को सांस्कृतिक भिन्नता के अनुसार कई खण्डों में विभक्त कर दिया गया

क्योंकि लोकसंस्कृति, मूल में एक होते हुए भी, प्रादेशिक प्रभाव से विभिन्न हो गई है।

(१) बाहय हिमालय प्रान्त अथवा भाबर--इसमें गढ़वाल तथा कुमायूं प्रदेश सम्मिलित हैं। इस प्रदेश में निवास करनेवाले 'खास' लोगों को 'खास राजपूत' और 'खास ब्राह्मण' श्रेणियों में बांट दिया गया है। इस प्रदेश में 'डोम' लोगों का भी प्रभावशाली स्थान है। इन 'डोम' लोगों में अच्छे शिल्पकार तथा कारीगर पाये जाते हैं। इनके अतिरिक्त कुछ अन्य जाति के लोग भी पाये जाते हैं। 'कोलतास' जाति का सामाजिक स्तर न्यूनतम माना जाता है। गढ़वाल और कुमायूं प्रदेश पर्वतीय प्रथा (बहुपति प्रथा) के अपवाद हैं। किन्तु वहीं पर 'डून' जिले में जौनसार में यह प्रथा प्रचलित है। यह प्रथा शिमला की पहाड़ियों में भी पाई जाती है और इसका प्रभाव हिन्दूकुश पर्वतमाला तक देखा जा सकता है।

(२) यह भाग तराई का है जिसका केन्द्र लखीमपुर खीरी है। इस भाग में तीन-चार संस्कृतियों का संमिश्रण है जो अंत में बौद्धधर्म के प्रभाव में आकर एक हो गई हैं।

(३) इस भाग में मिर्जापुर प्रदेश की आदिवासी जातियां सम्मिलित हैं। यह प्रांत मुंडा और द्राविड़ भाषाभाषी प्राचीन जातियों का क्षेत्र है। यहां पर मिर्जापुर जिले, छोटा नागपुर और सी० पी० की रियासतों के आदि निवासियों की संस्कृतियों का संगम हुआ है।

(४) बनारस प्रान्त की अपनी सांस्कृतिक विभिन्नताओं का एक महत्त्व है।

इस प्रांत की संस्कृति अत्यंत प्राचीन है। पश्चिमी युक्तप्रान्त को साधारणरूप से दो खण्डों में बाँटा जा सकता है--

'क' बुंदेलखण्ड 'ख' मथुरा और आगरा। इन प्रदेशों की सांस्कृतिक अवस्था पर वीरगाथाकाल और मध्यकालीन भारतीय समाज की छाप है। लखनऊ-कानपुर और बरेली की संस्कृति का संबंध उपरिलिखित किसी भी खण्ड से स्थापित नहीं किया जा सकता, क्योंकि इनकी संस्कृति पर नागरिकता की अधिक व्यापक छाप है।

निर्विवाद रूप से इन भागों की लोकसंस्कृति के संबंध में सामग्री का संकलन एक दुष्कर कार्य है, किन्तु तब भी इस कार्य के लिये दो अनुभवी विद्यार्थी नियुक्त किये गये हैं, जिनके द्वारा तराई प्रान्त और मिर्जापुर जिले का कार्य हो रहा है।

तराई प्रांत में काम करनेवाले विद्यार्थी न वहां के निवासियों के जीवन से सम्बन्धित अनेक तथ्यों का संग्रह किया है। 'थारु' जाति के वसंतोत्सव और 'मंगोल' जाति के निवासियों के संबंध में उन्होंने अच्छी सामग्री प्राप्त की है।

एक अन्य महत्त्वपूर्ण योजना संस्था के द्वारा एक कोष तैयार करवाने की है जिसमें नृवंश-शास्त्र संबंधी सभी उपलब्ध तथ्यों का संग्रह होगा और जो लोक-साहित्य और संस्कृति के अन्वेषकों के लिये पथप्रदर्शक का काम करेगा। संस्था इस बात के लिये भी प्रयत्नशील है कि 'टेकनिकल' शब्दों का यथोचित हिन्दी-रूपान्तर भी हो जाय, जिससे भविष्य में हिन्दी माध्यम हो जाने पर कार्य सुविधापूर्वक हो सके। हमको इस बात की भी आवश्यकता है कि हमें देश की जनता और विशेषज्ञों द्वारा क्रियात्मक कार्य करने के लिये परामर्श मिलता रहे, जिससे कार्य अधिक व्यापक पैमाने पर और सुचारु रूप में हो सके। इस संबंध में यह भी आवश्यक है कि नृवंशशास्त्र तथा लोकसंस्कृति-संबंधी एक अंतर्राष्टीय शब्दकोष हो जिसकी आवश्यकता का अनुभव नृवंशशास्त्र-विशेषज्ञों द्वारा किया जा चुका है और इसकी आवश्यकता के विषय में अंतर्राष्ट्रीय नृवंशशास्त्र और लोकसंस्कृति संघ, पेरिस ने अपना मत भी प्रकट किया है।

उपर्युक्त आवश्यकताओं का अनुभव करत हुए इस सस्था ने यह साहसपूर्ण प्रयास आरम्भ किया है और एक पत्रिका, जो इस विषय पर पूर्ण प्रकाश डाले, निकालने का आयोजन किया है। जैसा कि पहले कहा जा चुका है, इस सम्बन्ध में हमको सहयोग और परामर्श की पग-पग पर आवश्यकता है, क्योंकि भाषा, शब्दावली इत्यादि की समस्याएँ बड़ी गंभीर हैं। इस अंक में जो लेख प्रकाशित हो रहे हैं, उनकी कोई क्रमवद्ध रूपरेखा नहीं है। वे केवल इस विषय पर

संकेतमात्र हैं। हां, उनको आधार बनाकर इस दिशा में सफलतापूर्वक कुछ किया जा सकता है और इस प्रकार भारतीय लोकसंस्कृति की, जो हमारी वर्तमान सभ्यता तथा उत्कर्ष की जननी है, रक्षा करके उसको अक्षुण्ण बनाया जा सकता है। इस क्षेत्र में कवि, लेखक, अर्थशास्त्री, इतिहासवेत्ता सबके सहयोग से ही कार्य हो सकेगा और इस प्रकार इस पत्रिका द्वारा जिस साहित्य का संपादन होगा वह कालान्तर में एक क्रमबद्ध विवेचनात्मक इतिहास का रूप लेने में समर्थ हो सकेगा।

५, नीलरोड,
लखनऊ.
२८ दिसम्बर, १६४८

नरेशचन्द्र

हमारी संस्कृति का विकास

(लेखक--डा० डी० एन्० मजूमदार)

सन् १६४५ में लखनऊ विश्वविद्यालय के कुछ छात्र एक उत्तर भारतीय जातिसंबंधी (Ethnographic) जन-संस्कृति सभा प्रारम्भ करने की योजना पर विचार करने के लिए 'मानव-विज्ञान-प्रयोगशाला' में मुझसे मिले। वे सब मानव-विज्ञान के विद्यार्थी थे और सभ्यताओं के अध्ययन की गहन अभिरुचि रखते थे। एक विधान बनाया गया और बिना किसी विज्ञापन अथवा प्रकाशन के इस समाज का जन्म हुआ। कई बैठकें हुईं, विवाद हुए और लोगों का ध्यान इस ओर आकर्षित हुआ। यहां तक कि इन बैठकों में अधिक संख्या में लोग उपस्थित होने लगे और समाज में अभिरुचि रखनेवाले लोग बड़ी उत्सुकता से इन बैठकों की प्रतीक्षा करने लगे।

इस प्रकार के एक सांस्कृतिक समाज की उत्पत्ति, जैसा कि हमने प्रारम्भ किया है, कोई उपेक्षणीय घटना नहीं है। क्योंकि अधिकांश भारतीय विश्वविद्यालयों में जातियों के विस्तृत विवरण (Ethnography) और जाति-विज्ञान (Ethnology) को, जिसमें कि जन-संस्कृति भी सम्मिलित है, कोई स्थान प्राप्त नहीं हुआ है। उत्तरी भारत के विश्वविद्यालयों के पाठ्यक्रम में भी इनका अध्ययन सम्मिलित नहीं हो पाया है। लखनऊ में एक हल्का-सा प्रयास मानव-विज्ञान को अर्थ-शास्त्र और समाज-शास्त्र का एक भाग बनाकर किया गया है। यद्यपि साधारण तौर पर यह ढंग उपयोगी नहीं प्रतीत होता है, परन्तु आज के युग में विज्ञान की विभाजक सीमाएं नहीं हैं। जितना ही गहरे किसी सभ्यता के अनुशासन विस्तार में हम प्रविष्ट होते हैं, उतना ही अधिक उसके अस्तित्व और कार्यप्रणाली को शक्तिशाली

बनानेवाले तत्त्व और विवरण प्राप्त होते हैं। संभवतः वे दिन चले गए जब अर्थशास्त्र को शुष्क धन-विज्ञान माना जाता था। आज यह विज्ञान भी है और सामाजिक जीवन एवं सामाजिक समृद्धि की कला भी। हमारी इच्छाओं, धन-प्राप्ति एवं धन-व्यय का मूल सांस्कृतिक व्यवस्था की रूढ़ियों और जन-रीतियों में खोजा जाना चाहिए। हमारे सामाजिक जीवन में अर्थ-शास्त्र का मूल्यांकन करने के लिए। इन सबका ज्ञान आवश्यक होना चाहिए

बहुत से आदिम-समाजों की आर्थिक व्यवस्था का निरीक्षण करते समय और भिन्न-भिन्न आर्थिक कार्यों के संचालन का निर्धारण करते हुए, हम पाते हैं कि किस प्रकार रीतियां आर्थिक उद्देश्यों को स्पष्ट करती हैं। उदाहरण के लिये रीतियां ही आर्थिक व्यवहार निश्चित करती हैं और जीवन की रूढ़िगत व्यवस्था (economic moves) को स्वीकृत बनाती हैं। उदाहरणार्थ, एक दूसरे के प्रति जीवन पर्यन्त कर्तव्यों का आदान-प्रदान जैसा कि हम मेलेमीशियन समाज के 'कूलू' विधान की व्यवस्था और संचालन में देखते हैं। इसके अति-रिक्त विपरीत रीति-रिवाज, जो व्यक्तिगत स्वतन्त्रता की सीमा और सामाजिक दुर्बलताओं का निर्धारण करते हैं, भू-भाग पर अधिकार की व्यवस्था का किन्हीं विशेष सामाजिक समुदायों के सांस्कृतिक स्तर द्वारा निर्णय किया जाना, सामाजिक व्यवहार के स्रोत, उदाहरण के लिए, उत्तरी अमरीकी भारतीयों में अतिथि का किसी समय, रात या दिन, आदर किया जाना, जिसके कारण अतिथि एक सामाजिक शिष्टता में बंध जाता है कि वह मेजबान की अधिकृत वस्तुओं इत्यादि के उचित-अनुचित के विषय में कोई प्रश्न न कर सके, या हिमालय के इस ओर की कुछ बहुपति (polyandrous) जातियों में गुह्य अह-सानों का पाया जाना, क्योंकि वे अपने मेहमान को घर के सारे आराम और अपनी स्त्रियों के साथ संभोग का अधिकार देते हैं, यह सारी बातें स्पष्ट करती हैं कि किस प्रकार विभिन्न सांस्कृतिक रीति-रिवाज आपस में एक दूसरे से संबंधित हैं और एक समुचित रूप से संचालित संगठन के प्रारंभिक विभाग ह। इसी मंगठन की क्षमता

और सामाजिक समुदायों की दृढ़ता उनकी अवधि का निश्चय करती है।

किसी जाति की राजनैतिक व्यवस्था, राजनैतिक अव्यवस्था के विभिन्न परिणाम, वह दृष्टिकोण जो कि देशी एवं बाहरी संस्थाओं के प्रति हम बना लेते हैं, नेतृत्व का विधान, और वह विशेषताएं जो कि इसके लिए अत्यन्त आवश्यक हैं, नेतृत्व का अर्थ और उसकी प्राप्ति इत्यादि जनता की सांस्कृतिक व्यवस्थाओं में पूर्णरूप से व्याप्त हैं। अतएव इन सबका उचित ज्ञान सांस्कृतिक विकास एवं परिवर्तन समझने के लिये अतीव आवश्यक है। भारतवर्ष की अधिकांश आदिम जातियों की जाति-व्यवस्था स्पष्ट बतलाती है कि उस पर बाहरी प्रभाव पड़ा है। भारत की प्राचीन राजनैतिक व्यवस्था या वैदिककाल की भारतीय अर्थ-व्यवस्था के अन्तर्गत आदिम जातियां अपने जीवन को जंगलों और छिपी पहाड़ी गुफाओं में बिताने के लिए बहुत कुछ स्वतन्त्र थीं, और इसी जीवन की वह अभ्यस्त भी थीं। उन्हें पूर्ण स्वतन्त्रता प्राप्त थी कि वे अपने जातीय ढंग से शासन-विधान चलाएं। वे अपने पुराने शीला बिनने और इकट्ठा करने, शिकारी और गड़रिये के पेशे करने और पुरानी आर्थिक व्यवस्था को प्रचलित रखने के लिए स्वतन्त्र थे। संभवतः उत्तरी भारत में भारतीय आर्यों के आक्रमण के पश्चात् हल की खेती का विस्तार हुआ। विजयी नरेश आदिम और अर्ध-आदिम जातियों से मैत्री व्यवहार स्थापित कर लेते थे। यहां तक कि इन जातियों के नेताओं की कन्याओं से वह विवाह करने के लिए भी तय्यार हो जाते थे। इस प्रकार यही लोग उन राजाओं के सहायक बन गये, वन-रक्षक और स्वयं ही मन से काम करनेवाले लोग, प्रायः ही यह जातियां इन विजयी राजाओं के बराबर स्तर तक उन्नति कर जाया करती थीं। इस प्रकार यह दासता के बन्धन या अधिकार-वंचित किसान बने रहने, या इन विदेशी धनिकों के साथ असंतुलित होड़ करने से बच जाते थे।

बौद्धकाल में आर्थिक जीवन का जो विधान स्थापित हुआ था, वह भिन्न-भिन्न आदिम जाति-समूहों को अपने में संगृहीत न कर सका।

यह जाति-समूह अपने उन्नत देशवासियों के आर्थिक सहभागी न बन सके, और इस कारण इन जातियों की संस्कृति छिन्न-भिन्न होने से बहुत कुछ बच सकी। इन जातियों के जीवन और सांस्कृतिक बन्धनों में इस्लाम का प्रभाव भी प्रवेश न कर सका। क्योंकि शहरी सभ्यता में, जिस पर कि इस्लाम का विशेष प्रभाव था, इन जातियों की खपत नहीं थी। इसके अतिरिक्त जब कभी इन जातियों से लोग धर्म-परिवर्तन करके मुसलमान हो जाते थे तो सामाजिक स्तर में वे ऊंचे उठ जाते थे। इस प्रकार उनके जाति-संगठन के टूटने का पूरा मावजा उनको मिल जाता था। यूरोपियन और उपयूरोपियन संस्कृतियों के सम्पर्क में आने से अवश्य इन जातियों की बड़ी सांस्कृतिक हानि हुई है। यहां तक कि उनकी जनसंख्या घट गई है। यह सांस्कृतिक संबंध उनके पूरे सामाजिक ढांचे की अपेक्षा कुछ ही अंशों में उनके कार्यों को प्रभावित कर पाते हैं। जैसा कि प्रोफेसर मैलीनोस्की ने कहा है कि हम एकबारगी ही इन जातियों में सभ्यता नहीं भर देते हैं, वरन् सभ्यता की कुछ झलकें ही हम उन्हें दे पाते हैं, और वह भी या तो बदलकर किसी दूसरे ही ढंग से या फिर उन्हीं की व्यवस्था में घुल-मिलकर रह जाती है। इस प्रकार के कुछ छुटपुट संबंधों के कारण जो कि उनके जातीय ढांचे में प्रविष्ट हो गये हैं और मिशनरियों के प्रयास, जिन पर कोई रोक नहीं लगी, के कारण भारत के कुछ भागों में यहां तक बुरा प्रभाव पड़ा है कि वे अपने को अपने धर्म, यहां तक कि अपनी जातीय व्यवस्था को घृणा की दृष्टि से देखने लगी हैं। इन संबंधों का प्रभाव साधारणतया उचित भी पड़ा है, परन्तु इनकी छिन्न-भिन्न होती हुई सामाजिक व्यवस्था को गंभीर हानियां हुई हैं जिनमें से कुछ का तो कोई उपचार ही नहीं है। इस तथ्य को इन उदाहरणों से जांचिए :—

इन जातियों की स्वतन्त्र विचरण करने की प्रकृति के कारण स्त्री-पुरुषों में कोई भेद या संकोच नहीं रह जाता है। परन्तु इसके कारण यह घोर दुःखों और दुष्कर्मों में फंस गई है। इनकी संकोच-हीनता के कारण विदेशियों ने अपनी आर्थिक परिस्थिति का बेजा फायदा इनके कौटुंबिक जीवन को तबाह करने में उठाया है। चाहे कितनी ही

विषम ये परिस्थितियां रही हों, इनके नेतागण अपनी योग्यता से इन परिस्थितियों का सामना करके इन्हें हल कर लेते थे। परन्तु युद्धकाल में उत्पन्न विषम परिस्थितियां तो इनसे भी गंभीर हैं। भारतीय और विदेशी फौजों (सेनाओं) के संबंध में आने से इन जातियों पर बड़े गहरे प्रभाव पड़े हैं। अधिक समय तक इनके सम्पर्क में रहने के कारण इन जातियों के स्त्री-पुरुषों के दृष्टिकोण और व्यक्तित्व में स्थायी परिवर्तन आ गया है। इसी कारण इनके जातीय जीवन की सात्विकता नष्ट हो गई है, और इसी कारण इनकी आर्थिक व्यवस्था का आधार आत्म-निर्भरता न रहकर आर्थिक होड़ बन गया है। आदिम जातियों की संस्कृतियों की रूढ़िवादिता और स्थिरता समाप्त होकर जीवन के प्रति इनका नया और प्रगतिशील शांतिपूर्ण दृष्टिकोण बन गया है। परिणाम-स्वरूप इनकी जातिगत नैतिकता को बड़ी हानि हुई है।

हाल में ही छोटानागपुर के एक जिले में जाकर पता लगा कि पूरे बिहार-प्रान्त के नब्बे फीसदी ईसाई इस जिले में रहते हैं। हमने वहां देखा कि किस प्रकार विभिन्न जातियों की भाषा और संस्कृति का अन्तर उपरोक्त सम्पर्कों के कारण समाप्त होता जा रहा है और किस प्रकार परिश्रम के साथ यह आदिम समाज अपनी एक जाति-व्यवस्था कायम रखने के लिए प्रयत्नशील है। उन सूखे पेड़ों और टेढ़े-मेढ़े बहते हुए झरनों के समीप जहां इनके अगणित झुंड शरण पाया करते थे, आज अधिक उन्नत जीवन दृष्टिगोचर होता है। यह आदिम-जातियां, जोकि इन सूखे-साखे भू-भागों म आराम से पड़ी रहती थीं, अब बाहरी मनुष्यों और मशीनों के सम्पर्क में आई हैं। इस प्रकार यह अपने एकांत वास से अब अलग हट रही हैं। इन जातियों के इस आर्थिक परिवर्तन के परिणाम का अनुमान लगा लेना मुश्किल नहीं है। छोटा-नागपुर के सभी भागों में तमाम स्त्रियां मजदूरी करती हैं। स्त्रियां तो कुटुम्ब-पालन के हेतु बाहर काम पर जाती हैं, जबकि पुरुष घर पर निकम्मे बने बैठे रहते हैं। अपने स्वतन्त्र और संकोचहीन जीवन के कारण स्त्रियों को बड़ा उत्साह मिलता है और वह इधर-उधर तलाश करते रहनेवाले ठेकेदारों, जिनके पास तमाम काम रहता है, पास जाकर

विभिन्न प्रकार के काम खोजती हैं। वे लोग जिन्हें मिशन स्कूलों से कुछ शिक्षा मिल सकी है, शहरों में क्लर्क बनाए जा रहे हैं। गांव का सोने का कमरा ही अभी तक इनके पढ़ने का केन्द्र रहा है । इस कमरे का कप्तान एक प्रभावपूर्ण व्यक्ति होता था जो कि लड़कों के नैतिक चरित्र की जांच-पड़ताल रखता था ; और लड़कियों का निरीक्षण गांव की एक वयोवृद्ध स्त्री, जो इनकी संरक्षक होती थी, किया करती थी, और वह प्रायः लड़कियों के साथ ही रहा करती थी। जातीय शिष्टता, सहयोग, आर्थिक कर्तव्य और यौन संबंधी शिक्षाएं कमरों में दी जाती थीं। और इस कमरे में रखकर इन नवयुवक बालक और बालिकाओं को सम्पूर्ण ज्ञान दिया जाता था, जोकि एक सफल गार्हस्थ्य जीवन के लिए आवश्यक है। गांवों के इस कमरे में लड़कों और लड़कियों का रहना आवश्यक होने के कारण बहुत से छिपे और खुले तौर पर होने-वाले दुष्कर्मों का, जोकि विदेशीजाति और धर्म के लोगों के सम्पर्क में आने के कारण हुआ करते थे , अंत हो गया, और जाति के नवयुवक अपनी जाति में ही विवाह करना एक पवित्र कर्त्तव्य समझने लगे थे।

नई परिस्थितियों में मजदूरी की अधिक आवश्यकताओं के कारण जातिगत संस्कृति की बहुत सी संस्थाएं छिन्न-भिन्न हो गई हैं और यह कमरे एवं जाति के वयोवृद्ध अब नई संतान की दिनचर्या को अपने हाथों में नहीं रोक पाए। एक गांव के एक पुराने नेता ने कहा--'हमारी लड़कियां बाहर चली गई हैं' वे रात्रि में घर नहीं लौटती हैं और लड़के उनकी प्रतीक्षा किया करते हैं। पिताजी, आप चिन्ता न कीजिए। एक जवान लड़की ने मेरे सामने कहा--'मैं तुम्हारे लिये कपड़े और मिठाई लाऊंगी, लेकिन शिकायत न करो' और उसने अपने वृद्ध पिता के गाल चूमते हुए उसे इस प्रकार के अपशब्द कहने से मना किया; नहीं-नहीं, चुप, इतना धीरे से उसने कहा जैसे किसी चतुर, शिष्ट-समाज की लड़की ने कहा हो। प्रायः माताएं अपनी पुत्रियों के लौटने की प्रतीक्षा लगातार कई दिनों और हफ्तों तक किया करती हैं। परन्तु उनका कोई समाचार तक नहीं मिलता। एक दिन रास्ते के बगल में एक लारी रुकी, कुछ लड़कियां चक-चक करती हुई उतर पड़ीं। मिठाई,

कुछ मामूली गहने पहने हुए एवं रुपया लिये हुए वे अपने घर में घुसीं। यह देखकर कोई भी उनकी आलोचना न कर सका।

विवाह के पूर्व के नाजायज सम्बन्ध जाति तक ही सीमित रहते थे, और जब कोई लड़की कोई नाजायज व्यवहार कर बैठती थी तो वह उसी नवयुवक के साथ ब्याह दी जाती थी, जो इस दुष्कर्म का उत्तरदायी होता था या किसी दूसरे नवयुवक के साथ जो योग्य समझा जाता था। परन्तु आजकल तो अस्पतालों में लड़के पैदा होते हैं। जिनकी सजा मानवोपकारी समितियों द्वारा होती है, और इस प्रकार लड़कियों के जायज या नाजायज का सवाल ही उठ जाता है। जातीय प्रथाएं, रीतियां और व्यवहार, त्योहार और उत्सव इन सभी की महत्ता और पवित्रता समाप्त हो चुकी है। अतएव इसमें कोई आश्चर्य नहीं है कि छोटे बच्चों और लड़कियों के झुंड रोज रेलवे लाइन के किनारे गाते हुए मिलते हैं। 'हमटी, उमटी ! 'हमटी दीवाल पर से गिर पड़ा तो राजा के सिपाही और घोड़े उसे फिर डमटी के साथ न रख सके।' इत्यादि। अब लड़के लड़कियों को हम इन्द्रदेव की प्रशंसा में प्रार्थनाएं गाते हुए नहीं पाते हैं, जैसा कि पहले ग्रीष्म ऋतु में गाया करते थे, जिससे कि इन्द्रदेव प्रसन्न होकर धूप से तपते हुए खेतों में वर्षा करें और उनके तालाबों और कुओं को भर दें। अब गृहस्वामियों के नंगे लड़कों के ऊपर पानी छिड़कने की प्रथा भी समाप्त हो चुकी है जोकि एक प्रकार का जादू है जिसके द्वारा वर्षा लाते थे। उत्तरी भारत के गांवों में अब भी यह प्रथा पाई जाती है।

भारत की उतरी-पूर्वी सीमा की जातियों में जो परिवर्तन हुए हैं, उनका कारण ईसाई मिशनरियों के कार्यक्रम हैं। अधिकांश में तो यह कथन सत्य है। इसके अतिरिक्त इधर के कुछ वर्षों में हम अधिकांश गांवों में देखते हैं कि गांव के पुराने नेता का प्रभाव समाप्त हो चुका है, और अब उन लोगों का प्रभाव है जिन्होंने कि धन को आर्थिक व्यापारों का आधार बना लिया है जैसा कि पहले नहीं था। अन्य स्थानों में, इस नए परिवर्तन के प्रभावों का वर्णन मैंने किया है, (A tribe in Transition Longmans 1937) और बताया है

कि किस प्रकार राज्य के अधिकारीगण बजाय पुराने नेताओं के वे लोग बन रहे हैं जिन्होंने धन को ही प्रधान बना लिया है। इन लोगों ने या तो खाने के अन्न के बजाय धनोपार्जन करानेवाली फसलें पैदा करके, या खानों या कारखानों में मौसम के अलावा भी काम करके या अधिक मजदूरी पाकर, पर्याप्त धन एकत्रित कर लिया है। समाज के ये नये नेतागण जो कि बाहरी दुनिया के सम्पर्क में आये हैं और जिन्होंने काफी रुपया पैदा कर लिया है अपने जाति-भाइयों की दृष्टि में ऊंचे उठ गए हैं और इनका विशेष आदर है, और हर व्यक्ति उनकी सलाह-अनुमति पाने को लालायित रहता है, एवं उनकी राय-सम्मति बहुमूल्य मानी जाती है। युद्ध के पहले विशेषतया इनके नेता-गण गाहे-बगाहे मजदूरी करके और पेड़-पौधे लगाकर कुछ पैदा कर लेते थे। जो कुछ बच जाता था, वह छुट्टियों के दिन खर्च कर डालते थे, और जब खर्चे की तंगी हो जाती थी तो वह अपना गांव छोड़कर काम करने के स्थान पर चले जाया करते थे। यद्यपि ये भौतिक सुवि-धाओं के नये विचार और विकसित दृष्टिकोण अपने साथ लाते थे परन्तु इन सबका कोई स्थायी प्रभाव लोगों पर नहीं पड़ सका। युद्धकाल में अथाह सम्पत्ति इन जातियों ने उत्पन्न की, विशेष तौर पर सीमाप्रान्त के गांवों ने। रुपए की बाढ़, ऊंची कीमतों, और मजदूरी का पाया हुआ नकद रुपया, इन्हीं कारणों से इतना अधिक रुपया पा सके। आसाम की पहाड़ी जातियों के अर्धयूरोपीय संस्कृति के सम्पर्कों का परिणाम प्रो० J.H.Hutton ने Royal Anthropological Institute, London (1945) के सम्मुख हाल ही में अपने एक वक्तव्य में बड़ी बारीकी से स्पष्ट किया था। प्रो० हटन लिखते हैं, 'मुझे बोलते समय एक गुलाबी-सफेद तहाए हुए कार्ड की याद आती है जिसमें कि तितली काढ़कर उसे सजाया गया था। सुनहरे छापे में इस कार्ड पर लिखा था कि Mrs. Mimmeli अमुक-अमुक व्यक्तियों से सविनय निवेदन करती हैं कि वे शनिवार को दो बजे 24th July 1943 को लाजमी चर्च में उपस्थित होकर मेरी दूसरी पुत्री के विवाह की शोभा बढ़ावें। इसके पश्चात् दूल्हा और दुलहिन के

निवास-स्थान पर स्वागत होगा। जिसने लाजमी गांव के बांस के झोपड़ों, पानी के नाम पर केवल गांव का सोता, सफाई के नाम पर सुअरों द्वारा की गई गन्दगी को देखा होगा उसे वह स्वर्ण-लिखित कार्ड बिलकुल ही निस्सार और निरर्थक प्रतीत होगा। फिर भी यह उस समय और परिवर्तनों को बतलाता है जो कि बराबर होते रहते हैं। यह परिवर्तन इन जातियों के जीवन के संबंध में बहुत कुछ बताते हैं।

जहां कहीं भी मिश्नरियों का प्रभाव अधिक समय तक टिक गया है, वहीं ईसाई धर्म के विचारों ने इनका जातीय जीवन छितर-बितर कर डाला है और उनकी जातीय भावनाएँ नष्ट कर दी हैं। अफरीका के संबंध में लिखते समय Graham और Piddington ने इनकी विवाह-प्रथा के विषय में भी कुछ संकेत किया है। उदाहरणार्थ नैतिक पतन और विवाह के पूर्व ही गर्भ हो जाना, इत्यादि योरोपीय प्रभाव के बढ़ने के वे अनेक कारण बतलाते हैं। आम तौर पर उन जातियों के नैतिक नियमों का पतन और प्रथाओं की विशेष-रूप से समाप्ति ने विवाह के पूर्व के गर्भों के प्रति इनके नैतिक दृष्टि-कोण को बहुत ही कमजोर बना दिया है। बड़ी आसानी से उस गर्भवती स्त्री को त्याग दिया जाता है जो विवाह के पूर्व ही गर्भवती हो जाती है। वह गीत जो इस प्रकार के विवाह के पूर्व के अनैतिक संबंधों को निरुत्साहित करते थे अब कोई महत्त्व ही नहीं देता। स्कूली शिक्षा के कारण नई संतान जातिगत रूढ़ियों से मुक्त हो चुकी है। Dutch reformer church के बहुविवाहों की कड़ी आलोचना और सरकार का इसी कारण कर बांधना इन कारणों से विवाह के पहले ही स्त्री-पुरुषों के संबंध स्थापित होने लगे हैं। योरोपीय काम-धन्धों के केन्द्रों में प्रौढ़ पुरुषों की कमी के कारण स्त्रियों का आधिपत्य हो गया है और जाति की आबादी बनाए रखने की प्रबल इच्छा ने इनका बड़ा नैतिक पतन किया है। स्त्रियों की बच्चा पैदा करने की शक्तियों को उचित समझकर चर्च के सदस्यगण इस प्रकार के अनैतिक यौन संबंधों को उकसाते हैं और यह लोग छिपे तौर पर रखैले रखते हैं। अब मां-बाप की अध्यक्षता में विवाह न होकर, जो कि पुत्रियों के

बदले धन लेकर भी हुआ करते थे, प्रेमालाप द्वारा होते हैं। परिणाम-स्वरूप माता-पिता अपने बच्चों के नैतिक चरित्र के बारे में कोई दिल-चस्पी नहीं रखते हैं और न उनका अनुशासन ही चलता है। (Anthrop, Museum, Aberdeen, Pamphlet) इस प्रकार जो कुछ भी अफरीका की दशा है वह केवल वहीं की विचित्रता नहीं है। घोर अनैतिकता जो कि हमें इन जातियों के समाज में मिलती है, एकाएक इस बात की ओर संकेत करती है और चेतावनी देती है कि भारत में यह Laisses Faire की नीति का ही परि-णाम है। नागा जाति का जहां तक संबंध है, सरकार ने बताया है कि जो कुछ भी युद्धकाल में वह खो बैठी है वह उन्हें उस राष्ट्र की रक्षा करने के बदले में मिलेगा।

इस प्रकार उनके घरों को फिर बनवाया जायगा (एक जिले में बारह हजार घर जापानियों द्वारा बर्बाद कर दिये गये थे), उनकी फसलों के नष्ट हो जाने के कारण उसका मावजा भी दिया जायगा और प्रकार के साधनों द्वारा उनकी आर्थिक व्यवस्था का पुन:संस्थापन किया जायगा। परन्तु केवल आर्थिक पुन:संस्थापन से ही जो कि पहले पर्याप्त माना जाता था नागा या अन्य जातियों की समस्या हल नहीं हो जायगी। आज तो इस बात की आवश्यकता है कि इन जातियों के लिए एक नियमित सामाजिक अर्थनीति होनी चाहिए। और उसके आधार पर विभिन्न सांस्कृतिक रूढ़ियों को समाप्त किया जाना चाहिए, परंतु इस कार्य में तनिक सावधानी की जरूरत है, यह कि उनके समाज की स्वीकृति होनी चाहिए और उनके आत्म-सम्मान की रक्षा होनी चाहिए और उन्हें यह महसूस होना चाहिए कि वे भी उन महत्त्वपूर्ण संस्कृति में भागी हैं जिनकी कि प्रतीक बाहरी और अन्दरूनी जातियां हैं। कुछ लोगों की यह विचारधारा है कि इन आदिम जातियों को अलग एक सीमित दायरे में रखकर उन्नति की जाय। परन्तु यदि यह नीति प्रारम्भ करने की अनुमति दे दी जायगी तो इनकी असु-विधाएं बढ़ेंगी, खेती और इनके जीवन मजदूरी का बेशर्म शोषण जारी रहेगा।

एक ओर जहां साधारण सांस्कृतिक जीवन की यह दशा है, वहां दूसरी ओर इनके दृष्टिकोण में सम्पूर्ण नवीनकरण हुआ है। जहां तक मानवजीवन का प्रश्न है। जन-गीत, जन-कला और जन-व्यवहार एक प्रकार से सांस्कृतिक अनुशासन के ढांचे के प्रतीक हैं। प्रत्येक समाज की सामाजिक कार्यवाहियों उत्सवों और त्योहारों के लिए इसके समृद्ध जन-गीतों, जन-गाथाओं और कहावतों एवं कथाओं में अनुमति मिलती है। आदिम जातियों की शिक्षा को भी यह सामाजिक व्यवस्था के अनुसार मोड़ती है। एक स्थायी नैतिक व्यवस्था का स्वतन्त्र अनुशासन मानते रहने के कारण व्यक्ति गलत रास्ते पर हट नहीं सकता है, यहां तक कि कुछ मानवशास्त्र के पंडित कहते हैं कि आदिम मनुष्य अपनी जातिगत नैतिकताओं का पालन एक गुलाम की भांति करता है। परन्तु फिर इन नैतिकताओं ने जातिगत मान्यताओं और जातियों की रक्षा की है। यदि ऐसा न होता तो विभिन्न संस्कृतियों के सम्पर्क और विरोध में आने के कारण ये जातियां नष्टभ्रष्ट हो जाती हैं। अधिक आवश्यक तो है जातीय व्यवस्था की रक्षा करना और एक ही खून में नाजायज़ ताल्लुक को रोकना जैसा कि निम्नांकित गीत से स्पष्ट हो जाता है, जो कि छत्तीसगढ़ के खेतों और जंगलों में गाया जाता है। इसी कारण इस गीत का बड़ा महत्त्व है। हिस्लाय कालेज, नागपुर के प्रो० एस्० सी० दुबे ने इसे इकट्ठा किया है। गीत है:—

वह एक बदशक्ल धूर्त था (पिता)
और वह एक खूबसूरत औरत (लड़की)
दोनों अकेले रहते थे,

बुड्ढे ने दीपपूर्ण निगाहों से उसे देखना शुरू किया और जब काम-वासना ने उसे बहुत सताया उसने उसकी छाती पकड़ी, शरीर पकड़ा और उसका यौवन लूट लिया।

वे चुपचाप रहने लगे और फिर खुले आम एक आदमी और औरत, एक पत्नी और पति के समान कुछ समय तक शांति रही।

लेकिन बाद में वर्षा में वर्षा आ गई बिजलियां गरजने और तूफान आया तत्पश्चात् यकायक वर्षा रुक गई।

पूरे साल सूखा पड़ा, जानवरों ने जंगल छोड़ दिया, तालाबों और पोखरों में मछलियां नहीं बचीं, खाने योग्य जड़ों तक की कमी पड़ गई, धूर्त बुड्ढे और लड़की की कामुकता के एक पाप के कारण पूरे समाज को इतनी हानि उठानी पड़ी।

फिर देखिए निम्नांकित गाये हुए गीत से जातीय समाज की अवस्था किस प्रकार स्पष्ट होती है। यह कोल्हर की हारा जाति का गीत है :--

सोने का हमारा पात्र है
चांदी का हमारा पात्र है
प्रिय बहन ! इसे मत भरो
वहां उस गंदे पानी से

तीस लाख से अधिक आदिम जातियां भारतवर्ष में रहती हैं। लगभग पचास लाख 'अछूत' 'पिछड़ी हुई' 'नीची' और 'बाहरी' जातियां होंगी जिनमें से कुछ की उत्पत्ति जो आदिम जातियों से हुई है। अछूत जातियों के साथ अभी कोई न्याय नहीं हुआ है। परन्तु उन्होंने जो एक आवाज उठाई है, उसकी बड़ी सुनवाई होगी, भले ही राज-नैतिक कारणों से उनका पुनः परिष्कार हो जिसकी वह मांग करते हैं। तीस लाख आदिम जातियां पहाड़ों और जंगलों में फैली हुई हैं और उनके एक दूसरे से दूर-दूर एवं अलग-अलग होने के कारण, उनके किसी संगठन या एकत्रित प्रयास की सम्भावना ही समाप्त हो चुकी है। बहुत सी जातियां तो यह भी नहीं जानती हैं कि वे कैसे रहती हैं, और उनकी क्या तकलीफें हैं। Oceania के बहुत से भागों में आदिम जातियां बड़ी तेजी के साथ विलुप्त होती जा रही हैं। अफ-रीका और अमरीका की जातियों की भी दशा कुछ अच्छी नही है और अधिक अनुपात में उनकी जाति की आबादी में घटती होती जा रही है। भारत की इन जातियों का उतना विलोप नहीं हुआ है जितना अन्य देशों में। फिर भी काफी तादाद में उनकी आबादी की कमी हुई है। जातिविलोप के साथ-साथ इनकी बहुमूल्य सांस्कृतिक सम्पत्ति भी लुप्त होती जा रही है। अतएव इस समय बहुत आवश्यक है कि

हम इनकी संस्कृतियों का अध्ययन आरम्भ कर दें और इस प्रकार उनको जीवित रखने में सहायता दें।

बीस लाख से अधिक अपराधी जातियां, जो तमाम उत्तरी भारत में फैली हैं, मानवता का सुन्दर उदाहरण हैं। उनका उत्साह, शक्ति और जातीय संगठन विशेष तौर पर सफल पंचायत का ढंग और अपराधों के क्षमा की व्यवस्था जो उन्होंने बना रखी है, जिसका वर्णन एक पहले की पुस्तक में किया जा चुका है (Fortunes of Primitive Tribes 1945) इत्यादि ऐसे विषय हैं जो खोज करने लायक हैं। इन जातियों को हम केवल उनके अपराधों के सूक्ष्म अन्वेषण द्वारा ही समझ सकते हैं और उन्हें अपराध के दुष्मार्ग से हटा सकते हैं। इस प्रकार अपनी संस्कृति का कलंक हम धो सकते हैं। अपराध कहीं भी पैतृक संपत्ति नहीं सिद्ध हुआ है, और इस विषय का कोई ज्ञान होने से बीस लाख मनुष्यों को अपराधी मान बैठे हैं। जन्म से ही अपराधी से संबंध मान लिया गया है और दूसरों की अपेक्षा उनके समाज को अपराधी समाज मान लिया गया है।

Lord Rojla ने एक बार कहा था कि हम तब तक सभ्य नहीं कहे जा सकते, जब तक कि सम्पूर्ण मानव-जाति सभ्य न हो जाय। मेरे विचार में तो भारत के लिये यह तथ्य इतना सत्य है जितना अन्य किसी देश के लिये नहीं :

आदिम और पिछड़ी जातियों के विद्यमान होते हुए हम सभ्य नहीं कहे जा सकते और अब समय आ गया है कि हम जातियों के बारे में अधिक जानकारी बढ़ायें, उन्हें समझें और उन्हें ऊंचा उठायें, उस दुर्गति और जड़ता से जिससे कि सदियों से वह पीड़ित है।

जब हम इन जातिविषयक साहित्य की ओर अपना ध्यान आकर्षित करते हैं तो हम देखते हैं कि भारतीय लेखकों की रचनाएँ नहीं के बराबर हैं। इस क्षेत्र में अधिक काम तो योरोपीय विद्वानों, शासन के अधिकारियों और मिश्नरियों ने किया है। फिर भी एक जिलाधीश और मिशनरी वैज्ञानिक की आवश्यकताओं को पूरा नहीं कर सकते। फिर एक विदेशी जो दुभाषियों द्वारा काम करता है, की भी तो अड़चनें

हैं जैसा कि Dubois, Miss Mayo या Beverley Nichols की रचनाओं से, अफसोस से कहना पड़ता है, स्पष्ट है। इसके अलावा यूरोपीय विद्वानों का इससे सीधा सम्पर्क न होने से बहुत से त्रुटिपूर्ण वक्तव्य मिलते हैं, और इन जातियों की समस्याओं का पूर्ण भान नहीं हो पाता। इसी लिये इनमें से कुछ विद्वानों ने इन जातियों का बड़ा रंगीन चित्र खींचा है। ऐसी विचित्र प्रथाओं और रीतियों को प्रधानता दी है जिसका प्रायः उनके जीवन से कोई संबंध ही नहीं है, या जीवन के किसी भाग जैसे यौन विषय को बढ़ा-चढ़ाकर चित्रित किया है, केवल किसी विशेष प्रथा की ओर आकर्षित करने के लिये जो कि उस जीवन से संबंधित है। यों खूब बढ़ा-बढ़ाकर नग्न चित्र खींचे हैं। इन भारतीय जातियों के विषय में झूठी-सच्ची भ्रामक बातें कभी-कभी विज्ञान के नाम पर कहकर उनका बड़ा अपकार किया गया है। इस बड़ी हानि को हम अभी पूर्ण रूप से अनुभव नहीं कर पाये हैं; क्योंकि लाखों बेजबान जानों को पता ही नहीं कि उनके संबंध में क्या गलत-सही लिखा गया है, परंतु भारतीय मानवशास्त्र के विद्यार्थी को अपना उत्तरदायित्व इस विषय में न भूलना चाहिए। आदिम जातियों की संस्कृति का वैज्ञानिक अध्ययन करने पर ही हमारे पास इतना पर्याप्त ज्ञान हो सकता है कि हम उनकी सांस्कृतिक पुनर्संस्थापना की समस्याओं को सुलझा सकें। जहां कुछ लेखकों के संबंध में उपरोक्त कथन सत्य है वहां बहुतों के बारे में ऐसा नहीं कहा जा सकता। Prof J. H. Hutton और J. P. Mills सरीखे विद्वानों का जीवन-पर्यन्त प्रयत्न प्रशंसनीय है जिन लोगों के संबंध में इन्होंने लिखा, उन्हें समझते थे, जिन लोगों का वर्णन किया उन्हीं की बोली बोलते थे। परिणामस्वरूप आसाम की जातियों के विषय में प्रथम श्रेणी के लेख मिलते हैं जो प्रशंसनीय और योग्य हैं। भारतीय मानवशास्त्र के विद्वान् उनके इन उदाहरणों से बड़ा लाभ उठायेंगे, यदि उनका अनुकरण करके आगे बढ़ने की कोशिश करेंगे। यों एक अन्वेष को वैज्ञानिक दृष्टिकोण बनाने की जरूरत पड़ेगी जिससे कि वे धारणाएँ जो पहले से इनके विषय में बनी हैं समाप्त हो जायं। फिर आदिम जातियों के जीवन

का जो चित्र खींचा जायगा वह भावुकता और अवसरवादिता के चंगुल से परे होगा। अतएव हमारी राय में वैज्ञानिक मूल्यांकन द्वारा ही हम आदिम एवं पिछड़ी हुई संस्कृतियों का सुधार कर सकते हैं। इसके अतिरिक्त हम शासन की भी सहायता इनका उपकार करने में पा सकते हैं।

अतः यदि संपूर्ण समुदायों को न भी लें, तो कम से कम इन ९ करोड़ भारतीयों की रूढ़ियों और प्रथाओं का अध्ययन तो अतीव आवश्यक है, जिसे चिल्ला-चिल्लाकर कहने की आवश्यकता नहीं। इसी प्रकार के कुछ प्रयासों के परिणामस्वरूप जो सामग्री प्राप्त हुई है उसे बुद्धिमान् जनता के सम्मुख जन-संस्कृतिमाला के रूप में रखने का निश्चय किया गया है। हमारी सामाजिक मजबूरियां कुछ ऐसी हैं कि हम इस प्रकार की जांच-पड़ताल पैसे की अड़चनों से चला नहीं सकते, यद्यपि हमारा उद्देश्य यही है। अतएव यदि इस कार्य में जनता और सरकार से प्रोत्साहन और सहायता मिले तो बहुत ही अच्छा हो।

जौनसार बाबर के सामाजिक रीति-रिवाज

(लेखक--श्री जे० सी० जैन)

जौनसार बाबरवासियों में विवाहोत्सव बहुत सादा और आडम्बरहीन होता है। सम्बन्धियों और मित्रों द्वारा प्राप्त सूचनाओं के आधार पर ही रिश्ते तय हो जाते हैं। कदाचित् पुरोहित ही लड़के अथवा लड़की की सूचना देता है। लड़के का पिता लड़की के घर जाता है और उसे एक रुपया देकर सगाई कर देता है। यह रुपया बाद में पुरोहित को दे दिया जाता है। इस परिपाटी को बंध कहते हैं अर्थात् सगाई पक्की हो गई। इसके बाद पुरोहित द्वारा निश्चित मुहूर्त्त के दिन माता-पिता लड़की के लिए एक आभूषण (केवल एक आभूषण) भेजते हैं। यह प्रायेण एक जोड़ी चूड़ियां होती हैं, कदाचित् इनके साथ एक हार भी भेजा जाता है। सगाई के पश्चात् शीघ्र ही अथवा एक वर्ष के भीतर विवाह हो जाता है। सगाई और विवाह के बीच यदि कोई उत्सव व त्योहार पड़ता है तो वरपक्ष के माता-पिता लड़कीवाले को मिठाई आदि खाद्य पदार्थ भेजते हैं।

विवाह के एक दिवस पूर्व लड़के के परिवार का एक सदस्य, अन्य कई रिश्तेदार, गांव के परिचित लोग तथा एक बाजगी लड़की के घर जाते हैं। वहां मद्य से इनका स्वागत किया जाता है। आतिथ्य में बकरों का बध किया जाता है। लड़की के लिए ये लोग अपने साथ कई आभूषण ले जाते हैं, जिन्हें वह भावी पति के घर जाते हुए धारण करती है। अगले दिन प्रातः सब लोग लड़की तथा उसकी बरात के साथ वापस लौटते हैं। कभी-कभी बरातियों की संख्या २०० तक पहुंच जाती है। जब ये गांव में पहुंचते हैं तो गाँव की ओर से इनका स्वागत होता है और पीने के लिये तम्बाकू तथा मदिरा प्रस्तुत की जाती है। और उससे

जौनसर बावर के पुरुष

दुगने बकरे इनके लियें मारे जाते हैं, जितने लड़की के घर में लड़के-वालों के लिए मारे गये थे।

इधर बराती जब मदिरा, नृत्य तथा अन्य प्रकार के आमोद-प्रमोद में लीन होते हैं, वधू को घर के अंदर ले जाया जाता है। दहलीज पर सास वधू की आरती उतारती है और अपना एक आभूषण उसे उपहार में देती है। कई ब्राह्मण-परिवारों में इस समय पुरोहित वधू का आंचल वर के आंचल से बांध देता है। वर और वधू को दो चौकियों पर बैठाया जाता है। कदाचित् भूमि पर आटे से एक समकोण चतुर्भुज बनाई जाती है और उसके अंदर कई और चतुर्भुजें बनाकर दोनों चौकियां उस पर रखी जाती हैं। संस्कार में वरपक्ष के पुरोहित के अतिरिक्त लड़के के माता-पिता तथा बहुत-सी स्त्रियां भी उपस्थित रहती हैं। संस्कार समाप्त होने तक स्त्रियां मंगलगीत गाती रहती हैं। पुरोहित कुछ मंगलोच्चारण करता है। तदनन्तर दूध-भाती की रस्म पूरी की जाती है। दूध और मधु के दो पात्र पुरोहित वर-वधू के सामने रखता है। दोनों थोड़ा चखकर अपना चखा एक दूसरे को चखाते हैं। लड़की ससुर-गृह में एक रात रहती है और अगले दिन बरात के साथ वापस चली जाती है।

बरात को तीन भोजन दिए जाते हैं। इनमें मद्य-मांस का यथेष्ट प्रयोग होता है। एक खाना पहली रात को, जब बरात वर के घर पहुँचती है, दिया जाता है। दूसरा अगले दिन प्रातः और अंतिम एवं तीसरा मध्याह्न को बिदाई से पूर्व।

विवाह से पूर्व और प्रायेण सगाई के दिन कन्या का मूल्य चुकाया जाता है। पहले यह ५ या ७ रुपये होता था परन्तु अब बढ़कर १५ रुपया हो गया है। यह मूल्य कुंवारी लड़की का है। परन्तु यदि लड़की तलाक-शुदा हो और उसका पुनर्विवाह हो रहा है तब यह मूल्य २०० रुपये तक हो सकता है। अवस्थाभेद से यह घट-बढ़ भी सकता है। कुंवारी लड़की का मूल्य यद्यपि नाममात्र होता है, परन्तु उसके विवाह पर माता-पिता को काफी रुपया खर्च करना पड़ता है, खासकर मदिरा और भोजन पर।

वधू को दहेज में, अथवा पण्यात में जैसा कि ये लोग पुकारते हैं, आभूषण, वस्त्र, कदाचित् नकदी और पशु दिए जाते हैं। ये उसकी निजी सम्पत्ति होते हैं। पुनर्विवाह में आभूषण और वस्त्रों के अतिरिक्त कुछ नहीं दिया जाता है।

लड़की यदि नाबालिग हो तो विवाह के बाद पितृगृह लौट जाती है। यहां बालविवाह का अधिक प्रचार है। अगर कन्या युवावस्था प्राप्त कर चुकी हो तो वह बरात के साथ कुछ दूर तक जाती है, जहां से वर उसे लौटा लाता है। यदि कन्या पितृगृह चली जाय तो लड़के को उसे ८ दिन के भीतर वापस लौटा लाना चाहिए। इस रस्म ो "दुगोज" कहते हैं। परन्तु लड़की पुनः शीघ्र ही पितृगृह लौट जाती है और पतिगृह केवल उत्सव व त्योहार पड़ने पर कुछ दिनों के लिए अथवा अधिक से अधिक एक वर्ष के लिए आती है। तदनन्तर वह पति के साथ स्थायी रूप से रहने लगती है। यदि लड़की युवावस्था प्राप्त कर चुकी हो तो वह विवाहोपरान्त ही पति के साथ रहना शुरू कर देती है और एक साल तक पति से अलग नहीं रहती।

वर और वधू के बराती जब एक दूसरे के घर जाते हैं तो तलवार, ढाल आदि शस्त्रास्त्रों से लैस होते हैं। वहां पहुंच कर इन्हें एक ओर रख देते हैं और नृत्य तथा वाद्य में जुट जाते हैं।

वरपक्ष वधूपक्ष की बरात को उससे दुगने बकरे वध के लिए देता है जितने उसे मिले थे। वध के लिए कभी-कभी बकरे पहले से पाले जाते हैं, और लड़के का मामा इनका वध करता है। लेकिन इस प्रकार का आयोजन कुँआरी लड़की के विवाह पर ही किया जाता है, पुनर्विवाह अथवा "छूत" में ये आमोद-प्रमोद नहीं मनाए जाते और केवल कम खच के ख्याल से। पुनर्विवाह में वधू का मूल्य बहुत अधिक देना पड़ता है। कम से कम यह उतना अवश्य होता है जितना लड़की के माता-पिता ने उसके पूर्व-पति को तलाक के बदले में दिया था। वधू-मूल्य की मात्रा बहुत अधिक होने स वरपक्ष विवाह पर व्यय बहुत कम करता है और इसी दृष्टि से वध-पक्षवाले भी अधिक व्यय की आशा नहीं करते।

विवाह के प्रकार

सामर्थ्य और स्थिति के अनुसार विवाह तीन प्रकार क होते हैं—

(१) बेव–बेव का शाब्दिक अर्थ है गृहभोज । इसमें बाहर के लोग तथा दूर के रिश्तेदार निमंत्रित नहीं होते । वरपक्ष की ओर से कन्या क घर एक व्यक्ति जाता है और कन्यापक्ष की ओर से तीन व्यक्ति आते हैं । किसी बकरे का वध नहीं किया जाता । इस प्रकार का विवाह गरीब परिवारों में अथवा पुर्नविवाह में ही, जब लड़की तलाकशुदा होती है, प्रचलित है । इस पर कुल व्यय ८ रु० होता है ।

(२) द्वितीय प्रकार–बोईदीदी पुकारा जाता है । इसका अर्थ है "निमन्त्रण" केवल रिश्तेदार और परिचित ही भोज में बुलाए जाते हैं। वरपक्ष की ओर से कन्या के घर के दो आदमी जाते हैं और उसकी ओर से ६० आदमियों से अधिक नहीं आते । वरपक्ष की बरात को एक बकरा वध के लिए मिलता है, और वधूपक्ष को इससे दुगने । इस विवाह पर १२५) खर्च आता है ।

(३) तीसरे प्रकार का विवाह "बैजदीय" है । इस शब्द का अर्थ है—गायन–वाद्य के साथ। यह विवाह धूम-धाम से होता है । वधू के घर पचास बराती जाते हैं, इन्हें वध के लिये चार बकरे तथा यथेष्ट मदिरा मिलती है, सारा दिन गायन-वाद्य होता रहता है । कन्या-पक्ष के बरातियों की संख्या २०० से ५०० तक होती है ।

वरयात्रा में स्त्रियां सम्मिलित नहीं होती, सिवाय वधू के जो कि अपरिहार्य है ।

विवाह की ऋतु

विवाह प्रायेण शीतकाल—दिसम्बर, जनवरी, फर्वरी में होते हैं। जुताई-बुआई के श्रम से मुक्त होकर लोग इन दिनों विश्राम करते हैं। दिन छोटे और रातें लम्बी होती हैं। जो थोड़ा बहुत काम करने को होता है , दिन में ही समाप्त कर लिया जाता है। इन भयानक पर्व-तीय प्रदेशों में रात को काम करना बहुत कठिन होता है। यहां इन दिनों कड़ाके का शीत पड़ता है। पशु चरने के लिए बाहर नहीं ले जाए

जाते । भेड़-बकरियों के लिए चारा पहले से ही जमा कर लिया जाता है और उनकी ऊन उतार ली जाती है । रबी की फसल बोई जा चुकी होती है और देखभाल की अधिक आवश्यकता नहीं होती। लोग खाली होते हैं। कृषकों के लिये यह समय बेकारी का है । चूंकि आमोद-प्रमोद के लिए समय पर्याप्त होता है इसलिए विवाह इन्हीं दिनों में किए जाते हैं। शीताधिक्य के कारण मद्य इस प्रदेश का अपरिहार्य उत्तेजक पेय है । इन दिनों खोंचा भी खूब जाता है और लोग सारी ऋतु इसका खूब प्रयोग करते हैं विशेषरूपेण उत्सव आदि पर । खेती के झंझट से लोग मुक्त होते हैं । माघ मास जो फर्वरी के साथ पड़ता है लोग उत्सव-त्यौहारों में व्यतीत कर देते हैं । इन दिनों लोग प्रायः एक दूसरे के विवाह में शामिल होते हैं। वस्तुतः सम्पूर्ण मास विवाहों और उत्सवों में गुजार दिया जाता है ।

जन्म सम्बंधी रिवाज तथा उत्सव

शिशु का जन्म और विशेषरूपेण पुत्र का जन्म एक अत्यधिक महत्त्वपूर्ण घटना समझी जाती है, अतः गर्भिणी मां की पूर्ण देख-रेख की जाती है । उसका सबसे बड़ा पति, जो परिवार का मुखिया होता है इन दिनों अपना अधिक समय घर में ही व्यतीत करता है । कम से कम प्रसूति से एक मास पूर्व तक वह अधिक दिनों के लिए बाहर नहीं जाता। घर का सारा काम गर्भिणी स्वयं सँभालती है, परन्तु ज्यों-ज्यों प्रसूति का दिन निकट आता है, काम हल्का करती जाती है परन्तु करती है वह अंतिम दिन तक ।

प्रसव के दिन प्रसविणी को मकान की निचली मंजिल पर गोदाम के कमरे में लाया जाता है । यह इसी अभिप्राय के लिए पहले से ही खाली कर लेते हैं । प्रसवकाल में परिवार की एक स्त्री अथवा रिश्तेदार प्रसविणी की सहायतार्थ उसके पास रहती है । यदि इनमें से कोई भी सुलभ न हो तो पड़ोस से एक स्त्री बुला ली जाती है । लेकिन ऐसा मजबूरी की हालत में होता है । इसमें यह आशंका बनी रहती है कि कहीं वह नवजात शिशु को नजर न लगा दे अथवा कोई जादू-टोना न कर
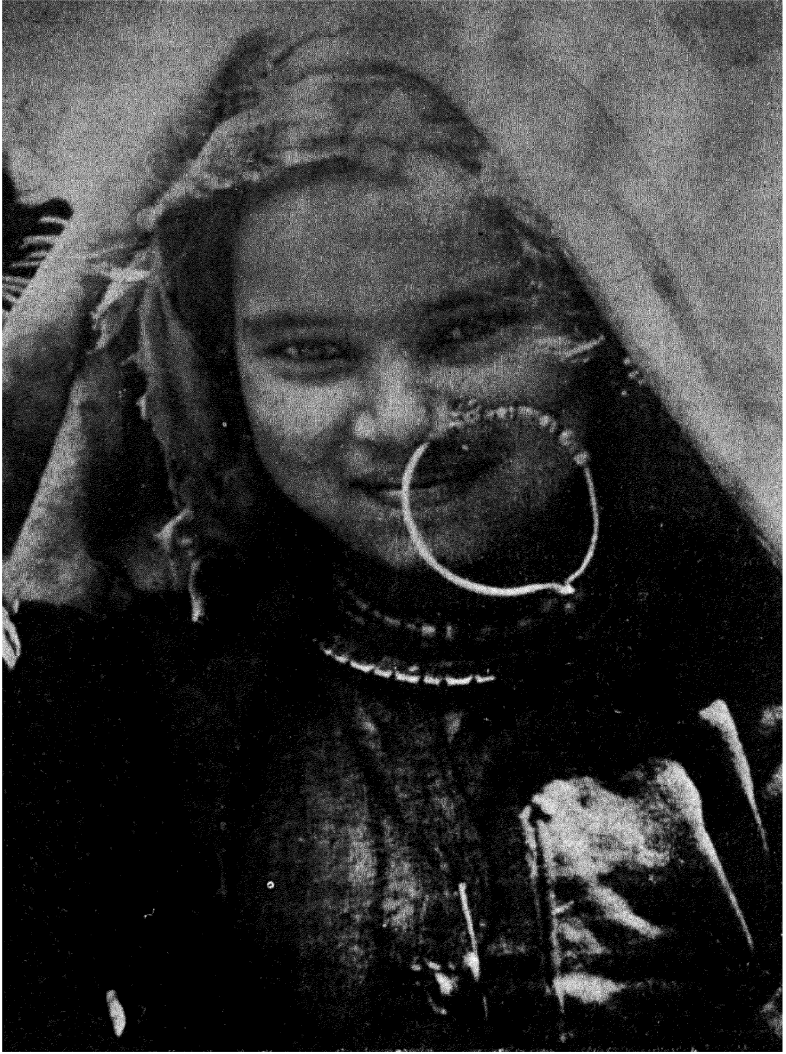
जौनसर बाबर की स्त्री

दे—जमुना के तटवर्ती बहुत से गांवों में पूर्वोक्त अंधविश्वास इतना बद्धमूल है कि शिशु की नाभिरज्जु पति स्वयं काटता है, यद्यपि एक स्त्री प्रसविणी की सहायतार्थ अवश्य उपस्थित रहती है। बावर जहां कि ऐसा अंधविश्वास प्रचलित नहीं, सहायिका स्त्री के अतिरिक्त रज्जु काटने के लिए बाजगी स्त्री को बुलाया जाता है। लेकिन जब पति विद्यमान हो तब वही काटता है। रज्जु प्रत्येक अवस्था में तकवे से काटी जाती है और ये दोनों नाली के नीचे गाड़ दिए जाते हैं। इस बात का विशेष ध्यान रखा जाता है कि धरती में तकवा सीधा खड़ा रहे इसका उद्देश्य रोगनिवारण है। यदि इसे खड़ा न गाड़ा जाए तो ऐसा विश्वास है कि बच्चा सदा रोगी रहेगा और स्वास्थ्य खराब रहेगा। नाभि-रज्जु का तीन इंच भाग बिना काटा छोड़ दिया जाता है और जब यह सखकर स्वयं झड़ जाता है, मां इसे अपने पास संभाल कर रख लेती है, ताकि प्रेतादि की कुदृष्टि से बालक सुरक्षित रहे।

कई गांवों में नाभि-रज्जु काटने के बाद तत्काल मां और शिशु को स्नान कराया जाता है। परन्तु मैदानी लोगों में ऐसी प्रथा नहीं है। प्रथम १० दिन मां और शिशु को दिन में तीन बार गरम जल से स्नान कराते हैं। प्रथम स्नान के उपरान्त दोनों को ऊपर की मंजिल ले जाते हैं। तीन दिन के उपरान्त लेकिन ६वें दिन से पूर्व (प्रायशः तीन दिन के बाद ही) "सूर्य्य-दर्शन" संस्कार होता है। इस दिन लोबान धूप से कमरे को सुगन्धित किया जाता है और मां तथा परिवार के अन्य सदस्य गोमूत्र चखते हैं। तत्पश्चात् मां और शिशु को कुछ सेकण्ड के लिए सूर्य-दर्शनार्थ बाहर लाते हैं। शीघ्र ही इन्हें अन्दर ले जाते हैं ताकि नजर न लग जाय। उत्तर के गांवों में ऐसा प्रचलन नहीं है। वहां दुष्टात्माओं के प्रकोप तथा कुदृष्टि के भय से बच्चे को १ ¼ मास तक बाहर नहीं निकालते। सूर्य-दर्शन विधि के दिन चावल, तिल और गुड़ एक साथ कूटकर बनाई हुई सीरनी गांव के बच्चों में बांटते हैं और एक पैसा या एक आना प्रत्येक को देते हैं। गरीब से गरीब घरों में भी प्रथम दर्शन देनेवाले बच्चे को सीरनी दी जाती है।

१० रात्रियों की समाप्ति पर "दसरात" उत्सव होता है जिसमें

सभी संबंधी निमन्त्रित होते हैं। सारे घर की सफाई की जाती है। गांव की रंथी और स्त्रियों को भोज दिया जाता है। धनी लोग स्त्री-संबंधियों को सामर्थ्यानुसार उपहार भी देते हैं। पुरोहित को अपना दक्षिणाभाग प्राप्त होता है। परन्तु यदि कन्या उत्पन्न हो, किसी प्रकार की खुशी नहीं मनाई जाती। बोल जलाकर धूम्र करने तक ही संस्कार सीमित रहता है। सम्बन्धियों को भी निमन्त्रण नहीं दिया जाता।

पुत्रोत्पत्ति पर बाजगी लोग बाजे बजाते हुए माता-पिता को बधाई देने आते हैं। और हरी घास भेंट करते हैं। यह समृद्धिसूचक मानी जाती है। उनको भोजन खिलाने का प्रबंध यदि तब संभव न हो तो किसी अन्य दिन बाजे बजाने के लिए बुलाया जाता है। दसरात का भोज दो मास बाद अथवा सुविधानुसार कभी भी किया जा सकता है।

शिशु-जन्म से प्रथम दस दिन तक नवप्रसूता का श्वसुर घर में प्रवेश नहीं करता। अपने निवास और भोजन-छादन का प्रबन्ध उसे घर से बाहर करना पड़ता है।

शिशु-उत्पत्ति पर मा का पिता या भाई उसके श्वसुर गृह आता है। यह उसके लिए पौष्टिक खाद्य पदार्थ लाता है। दसरात-उत्सव तक वहीं ठहरता है।

प्रसव के बाद ५ सप्ताह तक मां किसी प्रकार का काम नहीं करती। इस विश्राम-काल में उसे पुनः स्वास्थ्यलाभ करने का पर्याप्त समय मिल जाता है। लेकिन गरीब घरों में ऐसा संभव नहीं होता। एक बाजगी स्त्री को प्रसव के अगले दिन ही काम पर जुट जाना पड़ा था। पति के अतिरिक्त गृहस्थी सँभालनेवाला कोई अन्य व्यक्ति परिवार में न था। पति खेती-बाड़ी का जोर होने से उसमें व्यस्त था। सूर्यास्त के बाद प्रसूता पशुओं के लिए घास खोदने जाती थी। क्योंकि जब तक "सूर्यदर्शन" न हो जाय दिन में बाहर निकलना निषिद्ध है। अतएव सूर्योदय से पूर्व और सूर्यास्त के पश्चात् वह बाहर निकलती थी। साधारणतया प्रसूता पहले १० दिन पूर्ण विश्राम करती है और १ मास तक कठिन श्रम नहीं करती। १० दिन के पश्चात् प्रसूता को साधारण भोजन दिया जाता

है । इससे पूर्व पौष्टिक पदार्थ तथा आटे, घी व तेल के पक्वान्न खाने को देते हैं ।

नवजात शिशु को बिना आस्तीन का गहरा नीला गाउन पहनाया जाता है । कुदृष्टि से रक्षा के लिए शिशु की कलाइयों पर नीले धागे बाँध देते हैं । प्रेतात्माओं की कुदृष्टि तथा कुप्रभाव से बचाने के लिए एक मास तक शिशु को बाहर नहीं लाया जाता और कम से कम प्रथम १० दिन तक तो किसी भी अवस्था में नहीं लाते ।

शिश को मां का दूध अगले शिशु की उत्पत्ति तक पिलाया जाता है । परन्तु तीन साल से अधिक किसी भी अवस्था में नहीं पिलाते । शिशु का अन्नप्राशनसंस्कार ६ मास बाद होता है । इसमें बच्चे को गेहूं का बना पदार्थ खिलाते हैं, ऐसी धारणा है कि गेहूं कफ पैदा नहीं करता ।

नामकरणसंस्कार दसवें दिन होता है । पुरोहित बच्चे का नामकरण करता है । सभी व्यक्तियों के उपनाम भी होते हैं । इस संस्कार पर बहुत बड़ी दावत दी जाती है जिसमें गांव के लोग शामिल होते हैं । यहां की आम कहावत है "माई तो एको दाशरत खाओ ना" (मैंने तो दाशरत की मिठाई भी नहीं खाई, उसका नाम मुझे कैसे पता हो सकता है) । इससे पता चलता है कि नामकरणसंस्कार और भोज का कितना घनिष्ठ संबंध है ।

मृत्यु तथा दाह-संस्कार

वार्द्धक्य तथा ज्वरादि रोगों के कारण मृत्यु प्राकृतिक समझी जाती है । किसी दुर्घटना, कोढ़ और हैजे से हुई मृत्यु का कारण भूत-प्रेतात्माओं की कुदृष्टि समझा जाता है । बहुत पीड़ा तथा कष्ट सहन के बाद आनेवाली मृत्यु को दुष्कृत्यों व पापों का परिणाम मानते हैं । पूर्वजों द्वारा किसी देवता के विरुद्ध किया गया कोई कार्य भी आपत्ति और कष्ट का कारण बन सकता है । ऐसा विश्वास है कि दुर्घटना, पानी की धारा में डूबने से, पर्वत की चोटी से फिसलकर जो मरते हैं उनकी आत्माएँ दुर्घटना-स्थान पर निवास करने लगती हैं । रात्रि को भूत-प्रेतात्माएँ आकाश में विचरण करती हैं, अतः लोग अँधेरा होने पर इन स्थानों के समीप नहीं जाते ।

ये लोग प्रत्येक व्यक्ति में दो आत्माओं की कल्पना करते हैं (जीव और आत्मा)। एक आत्मा के शरीर त्याग से मृत्यु होती है और दूसरी जब स्वप्नावस्था में बाहर विचरण करती है तब स्वप्न आते हैं। प्रथम को हंस और द्वितीय आत्मा को हंसिनी पुकारते हैं। हंसिनी अपनी इच्छानुसार विचरण करती है लेकिन जब वह उकता जाती है तब अपने साथी हंस को बुलाकर स्वर्ग ले जाती है और मृत्यु हो जाती है।

स्वर्ग, नरक और पुनर्जन्म में ये लोग विश्वास करते हैं। इस विषय में इनके विचार सुलझे एवं स्पष्ट नहीं हैं, परन्तु इस विश्वास का पता प्रचलित लोकोक्तियों से चलता है। नरक में मनुष्य को यातनाएं सहनी पड़ती हैं और स्वर्ग में सुख प्राप्त होता है। अच्छे व्यक्तियों के लिए यह कहावत प्रायः प्रयुक्त की जाती है--"तेरा स्वर्ग को बासा चई हुई" (मृत्यु के बाद तुझे स्वर्गप्राप्ति हो) पुनर्जन्म के बारे में इनकी धारणा और भी अधिक अस्पष्ट है। वृद्ध पुरुषों और ब्राह्मणों, पुरोहितों को ही इसका ज्ञान होता है कि किसका पुनर्जन्म होगा। पुनर्जन्म इस जीवन के शुभाशुभ कर्मों के अनुसार मिलता है। अशुभ कर्मों का फल होता है पशुयोनि की प्राप्ति तथा दुःख और शुभ कर्मों का परिणाम आगामी जन्म में सुख-समृद्धि का लाभ। ऋणदाता कर्जदार के प्रति प्रायः इस लोकोक्ति का प्रयोग करता है--"इशु बू देला बेदा बाजी कारी देला" (अगर तुम इस जीवन में कर्ज अदा नहीं करते, न सही, लेकिन अगले जीवन में तुम्हें मेरे जुए का बैल बनकर यह कर्ज चुकाना पड़ेगा) इससे इस बात की पुष्टि होती है कि लोग केवल पुनर्जन्म में ही विश्वास नहीं करते अपितु जीव का अन्य योनियों में आवागमन भी मानते हैं। इनकी प्राप्ति कर्मफलानुसार होती है।

मृत्यु से पूर्व किसी विशेष विधि का विधान नहीं। परन्तु मरण-समय में किसी शुभ धातु का टुकड़ा--स्वर्ण अथवा चांदी अथवा इनका सिक्का उसके मुख में डाला जाता है।

इन लोगों में मुर्दे को जलाया जाता है। कुछ अवस्थाओं में दफनाते भी हैं। दुधमुंहे बच्चे अथवा १२ साल की आयु तक दफनाए जाते हैं।

हैजा, चेचक और कोढ़ से मरनेवाले भी गाड़े जाते हैं। साधुओं के मृतक-शरीर को भी दफनाया जाता है। इनके मृत-शरीर के साथ कुछ नमक भी रख दिया जाता है। इनके अतिरिक्त शेष सब जलाए जाते हैं।

मृत्यु के पश्चात् मृतक-शरीर को तत्काल स्नान कराया जाता है और दूसरे कपड़े पहनाते हैं। पुरुषों को कोरे कपड़े पहनाते हैं और स्त्रियों को पुराने ही। कुछ आभूषण भी पहना देते हैं। इसके पश्चात् शव को देवदार की अर्थी पर रखते हैं। धनी लोगों की अर्थी खूब सजाई जाती है। शव को जलूस के साथ श्मशानभूमि को ले जाते हैं। आगे-आगे बाजा बज रहा होता है। स्त्रियां श्मशानभूमि नहीं जातीं। जंगल की लकड़ियां एकत्र करके चिता बनाई जाती है, इस पर शव को रखा जाता है। सबसे निकट का सम्बन्धी चिता में आग देता है। उसका अनुसरण दूसरे रिश्तेदार करते हैं। वे सुलगती लकड़ियां चिता पर रखते हैं। रिवाज ऐसा है कि चिता में आग देनेवाले व्यक्तियों की संख्या सदा विषम होनी चाहिए।

स्त्री (रंथी) की मृत्यु श्वसुर-गृह में हो तो दाह-संस्कार में उसके माता-पिता भी सम्मिलित होते हैं। वे अपने साथ बाजा लाते हैं। स्त्री-शव को चिता पर रखने से पूर्व पति शरीर के सब आभूषण उतार लेता है सिवाय एक सस्ते से गहने के, यथा कानों की बालियां। इसी प्रकार का दूसरा आभूषण स्त्री का पिता बाजगीर को अपनी ओर से दान करता है।

जब लोग श्मशान से लौटते हैं तो गांव में घुसने से पूर्व कुछ कर्म-कांड किया जाता है। इसका उद्देश्य गांव में मृतक की आत्मा का प्रवेश रोकना होता है। श्मशान को जानेवाले मार्ग पर कांटेदार टहनियां और झाड़ियां रखी जाती हैं। गांव का पुरोहित रास्ते में पड़े कंकड़ों पर कुछ चिह्न करता है। एक कागज पर कुछ निशान बनाकर उसे सूती तथा ऊनी कपड़े में बंधे चावलों के साथ उन शाखाओं से बांध देता है। एक पुराना फटा जूता भी बांध दिया जाता है अथवा पास ही रख देते हैं। फिर हल की फार के नीचे की लकड़ी भूमि में गाड़ी जाती है और उसमें कीलें गाड़ दी जाती हैं। मार्ग पर कांटे गाड़े जाते हैं ताकि मृतात्मा

न आ सके। तत्पश्चात् एक बकरे की बलि दी जाती है। बकरे का सिर पुरोहित को मिलता है और शेष उपस्थित लोगों में बांट दिया जाता है।

श्मशानघाट किसी जलधारा अथवा झरने के पास होता है। लकड़ियों की चिता बनाकर उस पर शव रखा जाता है और आग दी जाती है। चिता जल चुकने के बाद राख पानी में छोड़ देते हैं। चिता का कुछ भी निशान शेष नहीं रहने दिया जाता। दाह के बाद मृतक के रिश्तेदार अपनी दाढ़ी-मूंछ और सिर के बाल मुंड़वा लेते हैं। पर ऐसा किसी बड़ी आयुवाले व्यक्ति की मृत्यु पर होता है, बच्चे की मृत्यु पर नहीं।

जब कभी किसी संबंधी की मृत्यु होती है तो परिवार के पुरुष सदस्य सिर की टोपियां उल्टाकर पहनते हैं और जब तक दस रात का भोजन हो जाय परिवार का कोई स्त्री-पुरुष मंदिर में नहीं जाता तथा घी व तेलका भोजन में प्रयोग नहीं किया जाता। पहले श्मशान से लौटने पर भोज दिया जाता था, परन्तु अब यह प्रथा लुप्त हो गई है। बकरे की बलि, केवल उसका प्रतीक, शेष रह गयी है। अब यह भोज ७ वें और १३ वें दिन के मध्य किसी दिन होता है। मृत्यु के प्रथम दिन मृतक के परिवार के लिए भोजन सामग्री गांव की ओर से आती है और गांव की स्त्रियां ही इसको तैयार करती हैं। प्रथम तीन दिन एक समय भोजन किया जाता है और घर की स्त्रियां रुदन करती हैं। तीसरे दिन दूर रहनेवाले रिश्तेदार आते हैं। मृतक के परिवार के सदस्यों के अतिरिक्त प्रत्येक रिश्तेदार उस परिवार के प्रधान पुरुष को "मुंह दिखाई" का एक रुपया देता है। इस दिन गांव के लोग भी सान्त्वना देने आते हैं। शुद्धि-संस्कार की दावत में, जो मृत्यु के ७ वें तथा १३ वें दिन के मध्य में किसी दिन होती है, प्रथम बार घी व तेल का प्रयोग किया जाता है। यह संस्कार मैदान में रहनेवाले हिन्दुओं से इन्होंने लिया है। जैसा कि मैं पहले संकेत कर चुका हूं कि मृत्यु के दिन भी दाह-संस्कार की समाप्ति पर भोज दिया गया था।

बालक की मृत्यु होने पर आयु के भेद से संस्कार में भी कुछ परिवर्तन किया जाता है। १० वर्ष से कम बालक के लिए केवल एक दिन शोक मनाया जाता है। न भोज दिया जाता है और न संबंधियों से

"मुंह दिखाई" का रुपया स्वीकार किया जाता है। बालक की आयु १ साल से ऊपर हो लेकिन दूध के दांत अभी न झड़े हों तो तीन दिन तक शोक मनाते हैं। अगर परिवार के लोगों की सलाह दावत देने की हो तभी वे रिश्तेदारों का एक रुपया स्वीकार करते हैं। प्रथा बतलाती है कि यह रुपया किसी अन्य अभिप्राय से नहीं, परन्तु भोज के बदले म दिया जाता है। इसका व्यय सब मिलकर बर्दाश्त करते हैं, जिससे सारा भार निकट संबधियों पर नहीं पड़ता। यदि बालक की अवस्था १२ साल के लगभग हो अथवा दूध के दांत झड़ चुके हों तो एक सुलगती लकड़ी से उसका शरीर झुलसाकर गाड़ देते हैं। इसके बाद शेष कर्म-काण्ड पूर्ण किया जाता है। बालक के खिलौने भी उसके शव के साथ रख दिये जाते हैं।

अपराधी जातियों की पुनर्प्राप्ति और सुधार की समस्याएँ

(लेखक श्री बी० एस० भार्गव)

अपराधी जातियां भारतीय सामाजिक जीवन की एक विचित्र विशिष्टता हैं। संसार के किसी भी अन्य देश में न तो हम पूरी जाति को ही अपराधी वर्ग की पाते हैं और न वहां के बच्चों में ही हम यह बात पाते हैं कि परम्परा से अपराध करना ही उनका पैतृक गुण हो। परन्तु इसका यह अर्थ नहीं है कि यहां अपराध अधिक प्रबल हैं अथवा अपराधों की ओर स्वाभाविक पालन बहुत अधिक है। यहां पर जो अपराध किये जाते हैं, उनका और किसी समस्या के अतिरिक्त आर्थिक समस्या ही मुख्य कारण है। यह बात इससे स्पष्ट है कि यहां के अपराधों की संख्या का बढ़ना और घटना यहां की उपज के बढ़ने और घटने अथवा साधारण जनता के ऐश्वर्य के बढ़ने-घटने पर निर्भर है। भारत में अपराधों की स्थिति पश्चिमी देशों से कुछ भिन्न है। यहां पर इन अपराधों की जड़ में अज्ञानता और निर्धनता मुख्य कारण हैं जब कि पश्चिम में स्वभाव की नीचता, हीन दृष्टिकोण, अस्वस्थ नैतिकता और वातावरण उत्तरदायी हैं। भारत में अपराधी जातियों की संख्या बहुत अधिक है। सम्पूर्ण भारत में उन मनुष्यों की संख्या प्रायः चालीस लाख है जो इस श्रेणी में आते हैं और जिनके विषय में यह समझा जाता है कि अपराध करने का गुण इनको पैतृक सम्पत्ति के रूप में मिला है। खोज करने पर इनमें से अधिकांश ऐसे मिलेंगे जो कि निर्धनता और प्रतिकूल परिस्थितियों के शिकार हैं।

संसार के किसी भी अन्य देश में 'अपराधी जाति की धारा'

(Criminal Tribes Act) के समान धारा नहीं पाई जाती है। यद्यपि कंजर जाति, जो अपराध करने और अस्थिर रहने की अपराधी है, सभी जगह पाई जाती है। अन्य देशों में इस जाति पर शासन करने के नियम भी, उस स्थान के साधारण नियम ही हैं। जो मनष्य कोई विशेष अपराध करते हैं, दण्डनीय होते हैं। भारतवर्ष के समान अन्य किसी भी देश में ऐसा नियम नहीं है कि सम्पूर्ण जाति अथवा एक मनुष्य-समूह को अलग कर दिया जाय और उन्हें एक विशेष नाम 'अपराधी जाति' दे दिया जाय, जिससे कि उनके अपराधों की संख्या कम हो जाय अथवा इस प्रकार उनको वश में किया जाय। अन्य देशों में अपराध की व्यवस्था केवल उसी व्यक्तिविशेष के लिए की जाती है, जो अपराध करता है। भारत के समान पूरी जाति अथवा समूह के कार्यो पर किसी विशेष स्थान पर, केवल इस विचार से कि वे भविष्य में अपराध न करें, प्रतिबन्ध नहीं लगाया जाता है। अपराधी जाति के किसी भी व्यक्तिविशेष के प्रति, जिसमें उस अपराध के दोष पाये जायँ, यदि इस प्रकार की घोषणा की जाय तो अधिक उपयुक्त हो। परन्तु यहां, अपराधी के चरित्र और व्यवहार के ऊपर अपराध का दोष निर्भर नहीं होता है जो कि अधिक वैज्ञानिक निष्पक्ष व्यवहार है। सम्पूर्ण पश्चिम में, अपराधियों के साथ, उनको जन्म से ही कुकर्मी समझकर व्यवहार नहीं किया जाता है, सर्वप्रथम अपराध के मुख्य कारण पर प्रहार किया जाता है, तदुपरान्त अपराधी की मानसिक और शारीरिक अवस्था को अधिक स्वस्थ बनाकर उसे समाज में रहने योग्य बनाने का प्रयत्न किया जाता है।

इन जातियों के अध्ययन से ज्ञात होता है कि इनका अपराधी स्वभाव बहुत कुछ आर्थिक समस्याओं पर निर्भर है। जीवन-निर्वाह के लिए उचित धन की प्राप्ति में कठिनाइयां ही जो कि किसी उचित कारोबार के अभाव में और इन जातियों को बस्ती से दूर कर देने के कारण, उत्पन्न हो जाती हैं, इन्हें अपने परम्परागत धन्धे हथलपकी, चोरी और डकैती की ओर पतित होने पर विवश करती हैं। यह देखा गया है कि आर्थिक संकटों के बढ़ने के साथ-साथ कारीगरों की आबादी

भी बढ़ती है और अधिक स्थिति के सुधार के साथ-साथ यह आबादी घट जाती है। अपराध और criminality की ओर पतन में, केवल यही एक तथ्य, आर्थिक पहलू की विशेषता की ओर संकेत करने के लिए पर्याप्त है। परन्तु आर्थिक जीवन संस्कृत जीवन का केवल एक भाग है, जब कि इस बात के लिए प्रयत्न न किया जाय कि संस्कृति के पूरे आदर्श को किस प्रकार ग्रहण किया जाय, उनका स्थायी सुधार और पुनः प्राप्ति संभव नहीं है। जब तक कि किसी सामाजिक वर्ग ने जीवन के प्रति समस्त आकर्षण को खो न दिया हो, या उन समस्त परिवर्तनों के साथ, जो उन्नति के जागरण के साथ आते हैं, अपने आपको मिला देता है। सामाजिक जागृति, रीति और धार्मिक अनुष्ठानों के अभ्यास की प्रत्येक अवस्था के साथ समझौता आवश्यक है, क्योंकि जो अवस्था एक समय एक समाज अथवा वर्ग के लिए लाभदायक थी, वही कुछ समय पश्चात् परिवर्तित अवस्था के अनुसार बाधक सिद्ध हो सकती है। वे जातियां जो कि समय की तीव्र गति के साथ बढ़ने में असमर्थ रहीं, सामाजिक अवस्था में निम्नश्रेणी की अवस्था को अपनाती है और प्राचीन जातियां कहलाती हैं। अपराधी जातियां केवल प्राचीन ही नहीं हैं वरन् उन्होंने समाजविरोधी व्यवहार को भी अपना लिया है। और, इस प्रकार उन्होंने अपने लिए 'अपराधी' की पदवी प्राप्त कर ली है। वे एक दुष्ट समूह में रहते हैं। उनका इतना विदेशीपन उन्हें एक निवासी के स्वस्थ स्वभाव से दूर रखता है, और एक साधारण स्थायी जीवन से यह बहिष्कार, उनकी खानाबदोशी तथा अपराधों की ओर उनका झुकाव होना सिद्ध करता है।

अपराधी जातियों की समस्या का स्थायी समाधान, उनकी सामाजिक और आर्थिक दशाओं का निरन्तर सुधार, कई पीढ़ी की शिक्षा और उनके दोषपूर्ण कार्यों पर प्रतिबन्ध तथा निरीक्षण पर निर्भर होगा। उनको कोई उचित कार्य में लगाने की ओर प्रत्येक संभव चेष्टा होनी चाहिए, जिससे वे अपने आपको, उस समाज में सम्बन्धित होने योग्य बना सकें, जिसमें कि वे रखे गये हैं। उन मनुष्यों के साथ जिनको अपराधी जाति-व्यवस्था के अनुसार निकाल दिया गया है,

ऐसा व्यवहार करना चाहिए, जैसे चिरकाल के रोगी के पुनः स्वास्थ्य लाभ के समय किया जाता है। जब यह व्यवहार कार्यरूप में परिणत कर लिया जायगा, तब संभव है कि उनके सामाजिक बहिष्कार का प्रश्न ही न उत्पन्न हो।

भिन्न-भिन्न प्रान्तों की प्रान्तीय सरकारें 'अपराधी जातियों की धारा' के अनुसार ही इन पर शासन कर रही हैं और इन अभागे मनुष्यों के लिये अनेक उपनिवेश और रहने के स्थान, इनके सुधार और पुनः अपनी पूर्वस्थिति प्राप्ति के लिए स्थापित किये गये हैं। परन्तु जो सफलता सर्वाधिक उन्नत प्रान्तों को मिलती है वह भी संतोषप्रद नहीं है। इसका कारण वे दोषपूर्ण नियम हैं, जिनके द्वारा कार्य किया जा रहा है। व्यक्तिगत नियमों को दोषमुक्त करने के लिए यह आवश्यक है कि उनकी नींव अधिक अच्छे नियमों पर रखी जाय। जब तक उनकी 'अपराधी जाति की धारा', जो कि सबसे प्रधान वस्तु है, के सम्पूर्ण कार्यक्रम को परिवर्तित न किया जाय, किसी ठोस परिणाम की आशा करना व्यर्थ है। वर्त्तमान समय में केवल उत्पन्न स्पष्ट और acute जिन्हें दूर करने का प्रयत्न किया जा रहा है जब कि प्रधान रोग को छुआ भी नहीं गया है। इसलिए उनके सुधार पर किये गये व्यय से पूर्ण लाभ नहीं होता है, केवल कुछ ही व्यक्ति, जो अपराधी जाति की धारा में' आ जाते हैं, उससे लाभ उठाते हैं। अन्य मनुष्यों को, जिनकी संख्या बहुत अधिक है और जो दूर ग्रामों और उपनिवेशों में रहते हैं, सुधार से लाभ उठाने का अवसर नहीं प्राप्त होता है। ये भ्रमण करनेवाली अस्थिर जातियां हमारे समाज की बेड़ी के समान हैं, इसलिए उनका सुधार परमावश्यक है। यदि अपराधी जाति की धारा के ध्येय को प्राप्त करने में आवश्यक उपाय (सुधार और उन्नति) काम में लाएं तो हम उनके ऊपर कुछ उन कठोर आवश्यकताओं को बलपूर्वक लादने के लिए निर्दोषी सिद्ध नहीं हो सकते जो उनके जीवन-निर्वाह में अड़चनें डालती हैं और जो उनके कार्य में कठिन बाधक हैं।

अपराधी जातियों के सुधार की व्यवस्थाएँ साधारणतया अत्यन्त

व्ययसाध्य हैं और इसीलिए इन व्यवस्थाओं की संख्या, उस भाग में रहनेवाले अपराधियों की समता में बहुत कम है। उदाहरण के लिए संयुक्तप्रान्त में केवल १८८१ सूचीबद्ध और १५८७ अन्य सदस्य, सुधार की उन सुविधाओं से, जो अपराधी जाति-व्यवस्था के अनुसार उन्हें दी गई है, लाभ उठा रहे हैं। इसके अतिरिक्त प्राय: ३६००० सूचीबद्ध और १४००,००० अन्य हैं, जिनके सुधार का कोई लाभदायक प्रबन्ध नहीं है। दूसरे शब्दों में यह कहा जा सकता है कि अपराधी जाति भी जनसंख्या से, केवल २३ प्रतिशत को छोड़कर जो कि वास्तविक अवस्था को सौंप दिए गये हैं। ६६.७७ प्रतिशत घोषित क्षेत्रफल में और प्राय: ८२ प्रतिशत सूचीबद्ध जन-संख्या में, इस व्यवस्था से कोई संतोषप्रद लाभ नहीं उठा रहे हैं। राजपूताना और अजमेर-मेरवाड़ा में सुधार की वास्तव में कोई संस्था नहीं है। पंजाब की दशा, जहां प्राय: १३००० सूची-बद्ध और १३२.३६५ घोषित व्यक्ति अपराधी जाति में आते हैं, इससे कुछ अच्छी है, क्योंकि २५७०० व्यक्तियों पर भिन्न-भिन्न व्यवस्थाओं, उपनिवेशों, ग्रामों और सुधारक शिक्षालयों द्वारा अपराधी जाति, विभाग का, सीधा शासन है। *

वर्त्तमान समय में उन स्थानों से जहां अपराधी जातियों के कुछ भयानक व्यक्ति एक लम्बे समय के लिए, खेती द्वारा, व्यापारिक केन्द्रों में शारीरिक परिश्रम द्वारा अथवा जंगलों में कार्य करके अपनी जीविका उपार्जन करने के लिए रोक दिए जाते हैं, अधिकांश व्यवस्थाएं केवल प्रतिबन्ध अथवा प्रतिरोधक का कार्य सम्पन्न करती हैं। यदि व्यावहारिक दृष्टि से देखा जाय तो अपराधियों की व्यवस्थाएँ बन्दियों से कुछ भी अच्छी नहीं हैं। ऐसे निवासियों के साथ, राज्य-नियम-एक्ट से वंचित के समान व्यवहार किया जाता है और यह स्वाभाविक ही है कि वे इस प्रकार के व्यवहार से घृणा करने लगें। वे सदैव इन व्यवस्थाओं से बचने के अवसर की ताक में रहते हैं। व्यवस्थाओं में अधिकारीवर्ग को

---

* Report of the Criminal Tribes Committee, July 1938, United Provinces. Punjab Report (1938) on Criminal Tribes.

उनके साथ मित्रतापूर्ण सम्बन्ध स्थापित करने की चेष्टा करनी चाहिए और उनके साथ अधिकारपूर्ण अथवा कठोर व्यवहार करने के स्थान पर उनकी कठिनाइयों को समझने का प्रयत्न करना चाहिए। व्यवस्थाओं में नियम पालन के प्रति, यद्यपि प्रबंधकों को हर प्रकार का प्रयत्न करना उचित है ; परन्तु साथ ही साथ उन्हें अपराधी जाति के साथ घनिष्ठता स्थापित करना उनके निजी कार्यक्रम में रुचि प्रदर्शित करना और इस प्रकार उनके विश्वास पर विजय प्राप्त करना भी आवश्यक है। यदि एक बार अधिकारीवर्ग इन निवासियों का विश्वास प्राप्त कर ले, तो इनका पूर्व स्थिति को प्राप्त करना निश्चयात्मक और निश्चय रूप से सफलता देनेवाला होगा।

जैसा कि अधिकांश प्रान्तों में वर्त्तमान समय में है, व्यवस्था का रूप एक ही प्रकार का न होना चाहिए। उनमें उस अपराधी की आवश्यकता तथा उसके अपराध-तत्त्व की दशा के अनुसार भिन्नता होनी चाहिए जिसको उस स्थान पर भेजा गया है।

वर्त्तमान में सब अपराधी एक ही व्यवस्था के अन्तर्गत किये जाते हैं, और बिना किसी विवेक के एक ही नियम पर उनको चलाया जाता है। उदाहरण के लिए, उन दोनों प्रकार के व्यक्तियों के साथ, जो अत्यधिक उद्दण्ड अथवा अबाध्य हैं और जो शान्त समझदार हैं, उनके गुणों के अनुसार भिन्नता न करके एक ही सा व्यवहार किया जाता है। इसका परिणाम यह होता है कि किसी भी स्त्री अथवा पुरुष को अपने सुधार की ओर कोई उत्साह नहीं होता है। अपराधियों की भिन्न-भिन्न श्रेणी के अनुसार उनकी व्यवस्था में भी भिन्नता होनी चाहिए। यह तभी संभव है जब कि सम्पूर्ण अपराधी जाति के मनोवैज्ञानिक अध्ययन के आधार पर उचित श्रेणी-विभाजन किया जाय। श्रेणी-विभाजन इस प्रकार होना चाहिए कि एक व्यक्ति अथवा समूह का हानिप्रद प्रभाव दूसरे पर न पड़े। वर्त्तमान समय में, एक बड़ी व्यवस्था के अन्तर्गत प्रायः समस्त अपराधी जातियाँ आ जाती हैं। सुधार की वर्तमान सुविधाओं का उत्तम फल केवल तभी प्राप्त किया जा सकता है जब कि एक व्यवस्था के अन्दर आनेवाली समस्त जनसंख्या एक ही हो

और उनमें वही व्यक्ति हों जिनको एक-से व्यवहार और एक ही शिक्षा की आवश्यकता हो। भिन्न प्रकार के अपराधियों को, भिन्न व्यवहार की भी आवश्यकता है और यह एक व्यवस्था के अन्तर्गत कार्य करनेवाले, एक ही वर्ग के अधिकारियों से संभव नहीं है कि वे एक ही व्यवस्था में भिन्न-भिन्न व्यवहार रख सकें। अपराधी जाति की समस्याएँ समाज के कल्याण के लिए अस्पतालों के समान एक प्रकार की समस्याएं हैं। यह सर्वत्र मान लिया गया है कि अपराध के साथ रोग के समान ही व्यवहार करना चाहिए। यदि अपराधियों के साथ रोग के समान ही सुधारक व्यवहार किया जाता है, तब हमें एक अस्पताल में पड़े हुए रोगियों की भिन्न-भिन्न आवश्यकताओं और रोग के कारणों के अनुसार ही, प्रत्येक व्यक्ति-विशेष के साथ भिन्न-भिन्न व्यवहार भी करना पड़ेगा। परन्तु किसी बड़ी संस्था के प्रबन्धक अथवा निरीक्षक का कार्य इतना अधिक और जटिल रहता है कि उसमें यह आशा करना व्यर्थ ही है कि वह प्रत्येक व्यक्ति का ठीक-ठीक निदान और आवश्यक चिन्ता कर सकेगा, अथवा प्रत्येक की ओर अपना पूरा ध्यान आकर्षित कर सकेगा। यद्यपि अधिकारीगण इस प्रकार के ध्यान देने के लिए पूर्ण प्रयत्न करते हैं परन्तु फिर भी वे प्रत्येक व्यक्ति के प्रति उसकी वांछित सुविधाओं को बढ़ाने में असमर्थ होते हैं। वर्त्तमान समय में जो प्रयत्न सुधार और पूर्व स्थिति प्राप्ति की ओर किये जा रहे हैं, उनकी तुलना एक अस्पताल से की जा सकती है जिसमें भिन्न-भिन्न रोगों के अनेक रोगी हों। परन्तु जिनको रोगमुक्त करने के लिए प्राचीन काल की 'त्रैलोक्य-चिंतामणि' के समान केवल एक ही औषधि का प्रयोग किया जाय।

जिन स्थानों में भूमि और जल की अधिकता हो, उन स्थानों में कृषि-संस्थाएं भी स्थापित करनी चाहिएँ। निवासियों को वैज्ञानि ढंग से खेती करनी सिखाना चाहिएँ। साधारणतया यह देखा गया है कि एक मध्यम श्रेणी का Settler एक साधारण कृषक से भी कृषि-विज्ञान में कम होता है। इसका कारण कदाचित् उसके अनुभव और शिक्षा की कमी है। ऐसे निवासियों के उद्यम का दूसरा साधन

यह हो सकता है कि ऐसे शिल्प केन्द्रों में, जो उनको कार्य देने के इच्छुक हों, उनको लगा दिया जाय। यह देखा गया है कि यदि एक संस्था में मनुष्यों की संख्या बहुत अधिक है तो सुधार में कुछ कठिनाई होती है। अधिकारीगण प्रत्येक मनुष्य की ओर पर्याप्त ध्यान नहीं दे सकते हैं। इसलिए यदि अपराधी जातियों को इस पर उत्साहित किया जाय कि वे उन अनुभवी और उनके सुधार-कार्य के प्रति उत्साह से भरे हुए समाज-शास्त्रियों के निरीक्षण में, दस-दस, पन्द्रह-पन्द्रह मनुष्यों के छोटे-छोटे परिवारों में विभक्त होकर उपनिवेशों में कृषकों के समान रहें, तो इन निवासियों को वे सब आवश्यक संयोग प्राप्त हो सकते हैं जिनके द्वारा ये अपना भाग्य सुधार सकते हैं।

ऐसी भ्रमण करनेवाली जातियों के उपनिवेश बसाने का अनुभव यह सिद्ध करता है कि इनका मन, अधिक संख्या में एकत्रित होकर एक स्थान पर रहने में उतना नहीं लगता जितना, दस से बारह परिवारों का अलग-अलग अनेक स्थानों में फैलकर बसने में लगता है। इस संबंध में १८८७ में पंजाब पुलिस के इन्सपेक्टर जनरल, लैफ्टीनेन्ट कर्नल हचिन्सन ने इस प्रकार लिखा है:— "पहले इसके इन Ishmaeties में से एक सचाई के साथ अपने निर्वाह के लिए कार्य करें, हमें आंशिक उपवास के लिए अपने आपको तैयार कर लेना चाहिए। परन्तु मैं इस बात के लिए दृढ़ता के साथ अपनी सम्मति दे सकता हूं कि इनको समूहों में कहीं भी एकत्रित न करना चाहिए। मेरा सियालकोट के सांसीकोट का अनुभव मुझे इस पर विश्वास दिलाता है कि अधिक संख्या में एकत्रित होने पर यह लोग परिश्रम करने के स्थान पर दूसरे को उपवास करने के लिए अधिक और अतिशीघ्र उत्साहित करते हैं। और प्रत्येक अच्छे प्रभाव को रोकने में दृढ़ता से बाधाएं उत्पन्न करते हैं। मेरा विचार है कि हमें इनको एक दूसरे से पृथक् रखने का ही प्रयत्न करना चाहिए अथवा छोटे-छोटे समूहों में ही विभाजित रखना चाहिए कि वे पूर्णतया एक दूसरे से पृथक् रहें और प्रत्येक समूह में हर प्रकार का श्रेष्ठतम प्रभाव और उत्साह, उन ग्रामों के मुखियों

अथवा सम्मानित व्यक्तियों के द्वारा उत्पन्न करना चाहिए जिनके निकट में निवास करते हों।"

हरीकृष्ण टॉमकिंस रिपोर्ट के लेखक ने भी इसी प्रकार का परिणाम निकाला है:—"जो परिणाम कर्नल हचिन्सन ने १८७३ में निकाला था, हमारी १९१४ की खोज भी हमें उसी परिणाम पर पहुंचाती है कि इन मनुष्यों को एक स्थान पर एकत्रित न करना चाहिए और इनको एक दूसरे से पृथक् रखने के लिए दृढ़तापूर्वक प्रयत्नशील होना चाहिए।" इस प्रकार इन अपराधी जातियों के पुनरुत्थान और सुधार की कुंजी छोटे-छोटे कृषि-प्रधान उपनिवेश बसाना है, जहां कि वे सभ्य जनसमाज के अच्छे प्रभाव को ग्रहण करने के अधिक योग्य होंगे बनिस्बत उन स्थानों के जहां उनकी संख्या अत्यधिक होगी। इन स्थानों में वे न तो स्वयं सन्तुष्ट वर्ग की ही स्थिति में होंगे और न वे वहां के शान्तिप्रिय निवासियों की शांति भंग करने योग्य ही होंगे जैसा कि वे उन स्थानों पर होते हैं जहां कि उनकी शक्ति अधिक प्रबल है। ऐसे उपनिवेशों में स्थापित होने के समय यह आवश्यक है कि प्रारम्भ में उन्हें कुछ आर्थिक सहायता भी दी जाय जिससे कि वे अपनी झोपड़ियों का निर्माण कर सकें हल, पशु और कृषि-कर्म की आवश्यक वस्तुएं क्रय कर सकें तथा भूमि की दशा सुधार सकें। इससे दोनों ही कार्य सधेंगे। उनको इस प्रकार स्थापित होने का लोभ भी होगा तथा उनका साहस सफलता में प्रतिफलित होगा। हमें चाहिए कि हम उनको कृषि-कर्म के वैज्ञानिक ढंग सिखाएं और उस समय तक, जब तक कि उनकी भूमि की उपज उनके जीवन की आवश्यकताओं को पूर्ण करने के लिए पर्याप्त न हों, उनका व्यय-भार भी सहन करें।

वास्तव में संस्थाओं को एक प्रकार के Clearing house के समान कार्य करना चाहिए जहां से ये बिगड़े हुए व्यक्ति सुधर कर निकलते हैं और जन-समूह में जमा हो जाते हैं। अभी तक इन संस्थाओं से सुधरकर निकले हुए व्यक्तियों की संख्या बहुत कम है, क्योंकि प्रथम तो उनके लिए संस्थाओं के बाहर उनके भविष्य के लिए कोई प्रबंध नहीं है, दूसरे ये लोग

स्वयं भी बाहर के अतिरिक्त अस्तित्व का सामना करने के लिए तत्पर नहीं होते हैं। यदि इन अपराधी जाति के व्यक्तियों को विभिन्न प्रकार की संस्थाओं को सौंपने की कार्यप्रणाली कुछ-कुछ निम्नलिखित अत्याचारों पर होती तो अच्छा होता।

अपराधी जातियों के दोषी व्यक्तियों को—सर्वप्रथम युवा अपराधियों को सुधारने की पाठशालाओं में भेजना चाहिए जहाँ पर कि वे कोई लाभदायक उद्यम तथा नियमों को सिर झुकाकर मान लेने का अभ्यास करें। जब कि प्राथमिक शिक्षा, सन्तोषजनक रूप से समाप्त हो जाय तो इन व्यक्तियों को उनकी योग्यता के अनुसार शिल्प, कृषि के सम्मिलित कार्य में लगा देने के प्रश्न पर विचार करना चाहिए। इसी प्रकार संस्थाओं में उनके हटाए जाने के प्रश्न पर भी उसी समय विचार करना चाहिए जब कि अधिकारीगण उनके सुधार के विषय में सन्तुष्ट हों। यदि किसी व्यक्ति ने कोई विशेष व्यापार अथवा कला सीख ली है तो उसको संस्था के बाहर भी उस कला को बढ़ाने के लिए उत्साहित करना चाहिए और उस पर वे सब बन्धन न लगाने चाहिएं जो कि साधारणतया अन्य अपराधी व्यक्तियों पर हैं। उनके गृह समता के उदाहरण के आधार पर बनने चाहिए और कुछ सहायता उनको मिलनी चाहिए। जैसे ही अधिक संख्या का सुधार हो चुके, इन संस्थाओं को नष्ट करके उनको कुछ प्रारम्भिक निरीक्षण के साथ उपनिवेशों में परिवर्तित कर देना चाहिए। इसके पश्चात् किसी भी निरीक्षण की आवश्यकता नहीं है। उन व्यक्तियों को, जिनका सुधार उस समय तक न हुआ हो, अन्य संस्थाओं में भेज देना चाहिए। अपराधी जातियों के समस्त व्यक्तियों के साथ प्रतिबन्ध और सुधार-कार्य में, सरकारी और गैरसरकारी दोनों प्रकार के साधनों को साथ-साथ प्रयोग में लाना चाहिए। नियुक्त किये हुए व्यक्तियों में सरकारी साधनों द्वारा प्रभावशाली नियमानुवर्तिता और संयम उत्पन्न होगा और परिणामस्वरूप उनके चरित्र होने की संभावनाएं अत्यधिक न्यून होंगी। दूसरी ओर गैर सरकारी साधन इनको जनता की सहानुभूति और सहायता दिलाने में सफल होंगे जो इनके लिए लाभकारी होगी। यहां पर

समाज-सेवकों की सेवाएं प्राप्त करनी चाहिए। गैरसरकारी साधनों द्वारा जनता की सहायता अधिक प्राप्त की जा सकती है। यह स्पष्ट है कि स्पर्द्धा के एक स्वस्थ उत्साह को उत्तेजित करने के लिए तथा भांति-भांति की सामाजिक परीक्षाओं के लिए सर्वजन-उपकारी संस्थाओं को कार्य में भाग लेने का अधिकार देना चाहिए, परन्तु इस प्रकार के प्रयत्नों का हमारा अनुभव सन्तोषप्रद नहीं है।

इस बात के प्रति विशेषरूप से ध्यान देना चाहिए कि कोई भी संस्था कारागार का रूप न धारण कर ले। एक संस्था का कार्य एक ओर नियमानुवर्तिता सिखाना तथा दूसरी ओर दुर्गुणों का नाश और समाज में सम्मिलित होने योग्य गुणों को प्राप्त कराना है। संस्कृति तथा व्यापारिक कला की शिक्षा दोनों ही ओर बराबर जोर देना चाहिए तथा पुस्तकीय ज्ञान से अधिक उनके वास्तविक ज्ञान-लाभ की ओर ध्यान देना चाहिए। व्यक्ति-विशेष की रुचि के तथा उनके स्वाभाविक सुझाव के अनुसार, उपयोगी व्यावहारिक हस्तशिल्प की शिक्षा देनी चाहिए क्योंकि संस्थाओं को छोड़ने के उपरान्त इन व्यक्तियों को, अपनी रुचि के अनुसार धन्धे से ही अपनी जीविका उपार्जित करनी पड़ेगी। किसी धन्धे की शिक्षा देते समय इस पर विशेषरूप से ध्यान रहना चाहिए कि इन व्यक्तियों को केवल उन्हीं कलाओं की शिक्षा देनी चाहिए जिसका उपयोग वे उस समय कर सकें जब कि सुधार के पश्चात् वे बाहर आयेंगे। वर्त्तमान समय में इन सुधारक गृहों के निवासी जब बाहर आते हैं तो अत्यन्त कठिनता से वह अपनी कलाओं का उपयोग कर पाते हैं। इस दोषपूर्ण शिक्षा का अवश्यम्भावी परिणाम यह होता है कि वे सुधरे हुए व्यक्ति पुन. अपराध करने के लिए विवश हो जाते हैं।

कुछ संस्थाओं की स्थिति ऐसे लोगों में होनी चाहिए जहां कृषि-उद्यान में कार्य और पशुपालन की शिक्षा सुविधापूर्वक दी जा सके। हमारा देश कृषि-प्रधान है, इसलिए यहां पर कृषि-शास्त्र की वैज्ञानिक शिक्षा से अधिक उपयुक्त तथा लाभदायक और कोई शिक्षा नहीं हो सकती है। भूमि के प्रति क्षुधा इन मनुष्यों में भी उतनी ही तीव्र है जितनी

अन्य मनुष्यों में है और भूमि के एक टुकड़े की प्राप्ति की आशा उन्हें अच्छे व्यवहार की ओर लुभाती है। उनके जीवनकाल में यह आशा उन्हें अपराधों के लोभ को रोक रखने में सहायक होती है। स्त्रियों की मानसिक तथा व्यावहारिक शिक्षा पुरुषों से भिन्न होनी चाहिए, उनको घरेलू काम-काज तथा हर प्रकार के गृहकार्य की शिक्षा, जैसे पाक-विज्ञान, सिलाई, काढ़ना-बिनना और धात्री-विद्या की शिक्षा देनी चाहिए जिससे कि भविष्य में वे कुशल गृहिणी बन सकें। संस्थाओं के अधिकारियों को उन्हें इतनी ही स्वतन्त्रता देनी चाहिए जिससे कि वे नियमों का उल्लंघन न कर सकें। आत्म-सम्मान और स्वतन्त्रता की शिक्षा उनको पूर्णरूप से देनी चाहिए। संस्थाओं के अधिकारीवर्ग और निवासियों का सम्बन्ध, जहां तक हो, मित्रवत् होना चाहिए। संस्थाओं के भीतरी प्रबंध में, वहां के निवासियों को उत्तरदायित्वपूर्ण पद देने में जहां तक हो सुविधाएं देनी चाहिएं, जिससे कि साधारण प्रजा से वे अपने आपको किसी भी प्रकार भिन्न श्रेणी का न समझें। यह संसारप्रसिद्ध सत्य है कि इस स्थिति में आकर नियमों के तोड़नेवाले ही नियमों के बनानेवाले बन जाते हैं और तभी वे नियम और सुप्रबंध का मूल्य समझते हैं।

संस्थाओं के कर्मचारीगण भी इस सुधार-योजना का एक मुख्य अंग हैं क्योंकि संस्था की पूर्ण सफलता में वे अपना सहयोग प्रदान करते हैं। यह कार्यप्रणाली की विशेषता नहीं है जिसे महत्त्व दिया जाय, वरन् यह महत्त्व उस उत्साह को देना चाहिए जिसके द्वारा वह प्रणाली प्रयोग में लाई गई। यह सचमुच उसी समय सत्य होता है जब कि मनुष्य-जाति के साथ व्यवहार करना पड़ता है। अपराधी जातियों के साथ व्यवहार करते समय किसी भी युक्ति का सफल होना संभव नहीं है, जब तक कि वे पूर्ण उत्साह के साथ एक उपयुक्त व्यक्ति द्वारा प्रयोग में न लाई जाय। जब तक कि वर्तमान अशिक्षित और हृदयहीन कर्मचारीवर्ग और पुलिस उपस्थित है, तब तक संस्थाओं के निवासियों की दशा में किसी प्रशंसनीय परिवर्तन की आशा करना व्यर्थ है। यह बात नहीं है कि वर्तमान कर्मचारीवर्ग व्यक्तिगत

रूप से अपने कार्य में अयोग्य हैं, वरन् उनकी सम्पूर्ण परम्परा, दृष्टिकोण और शिक्षा, अपराधी निवासियों के प्रति उचित भाव ग्रहण करने में बाधक हैं। संस्था के एक अधिकारी को एक अपराधी के समाज में लौट जाने पर उसी प्रकार की प्रसन्नता होनी चाहिए जैसी कि एक वैद्य को एक ऐसे रोगी को देखकर होती है जो एक भयानक रोग से स्थायीरूप से मुक्त हो गया हो। सत्य तो यह है कि प्रत्येक दण्ड, किसी न किसी रूप में, बलप्रयोग ही है। यह अपराधी की त्रुटि को सुधारने के लिए पर्याप्त होना चाहिए। उपचार करने के स्थान पर व्यवस्था के दोषों को रोकना अधिक उपयुक्त है। साधारणतया, संस्थाओं के निवासियों द्वारा किये गये अपराध उनके साथ किये गये व्यवहार का ही सच्चा प्रतिरूप है।

थारु पुरुष
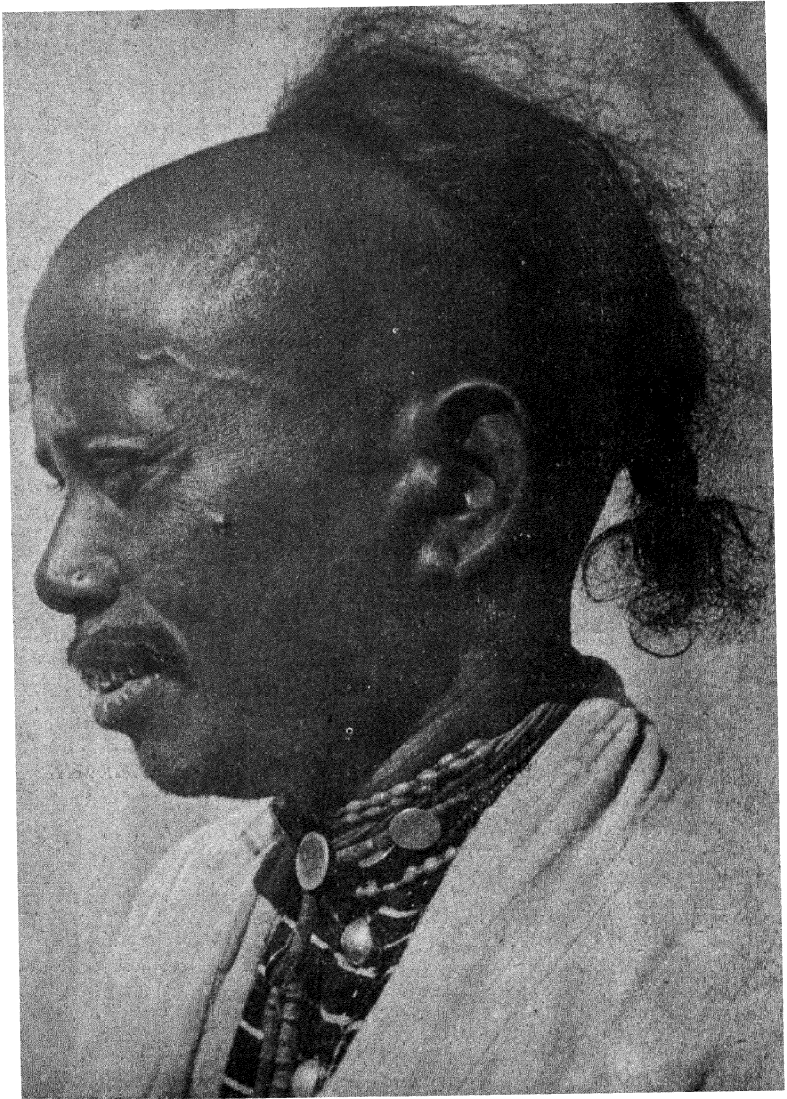
थारु-जाति में होली का त्योहार

(लेखक—सुरेन्द्रकुमार श्रीवास्तव एम० ए०)

हिमालय-प्रदेश के तराई-भाग में एक प्राचीन जाति थारु ही है जो शताब्दियों से अपने जीवन का निर्वाह एक ही प्रकार से करती चली आ रही है। ये लोग एक दलदलवाले प्रदेश में रहते हैं जो मंदगति से बहनेवाली नदियों और पानी से अवरोधित कीचड़वाले भू-भाग में स्थित है। यहां की ज़मीन नदियों की लाई हुई मिट्टी से बनी है जो लम्बी, मोटी और उलझी हुई घासों और नरकुल के जंगलों की उत्पत्ति को बढ़ाती है। इसमें ग्रीष्म ऋतु में चीता, जंगली हाथी और भैंसे तथा चीतल सुन्दर आश्रय पाते हैं। इस भू-भाग में लूटने के निमित्त घूमनेवाले पशुओं, जैसे जंगली हाथी और भैंसे, चीते और सर्पों से भी बहुत भय रहता है जो कृषि और पशुओं का विनाश कर देते हैं। इस प्रकार के 'मार' अथवा 'मृत्यु-प्रदेश' की तुलनात्मक निर्जनता में रहते हुए किसी भी मानव-समुदाय ने ऐसी असत्कारी और अस्वास्थ्यकारी परिस्थिति के साथ एकीकरण नहीं दिखाया है जैसा कि थारु-जाति ने किया है। ऐसे मृत्युपूर्ण स्थान में रहते हुए जीवित तो हैं ही, वरन् इन्होंने परिवर्तित आर्थिक वातावरण में भी अपने जीवन को सुचारुरूप से व्यवस्थित कर लिया है जो किसी को असन्तुष्ट नहीं करता और जो किसी भी प्रकार देशांतर-वास को प्रोत्साहन नहीं देता।

सन् १९३१ की जनगणना के अनुसार थारु-जाति की जनसंख्या ३१,५८३ थी जो कि विशेषरूप से नैनीताल जिले में एकत्रित है। परन्तु ये लोग खीरी, बहराइच, गोंडा और गोरखपुर में भी रहते हैं। नैनीताल के थारुओं की संख्या २०,७५३ है और ये लोग सितारगंज परगना, किछा तहसील, नानकमता परगना (खटीमा तहसील) और मुख्य खटीमा तहसील में पाये जाते हैं जहां ये अधिक संख्या में हैं।

थारु-जाति का मुख्य निवासस्थान नैनीताल की तराई है जिसकी उत्तर की ओर कुमाऊं प्रान्त और भाबर सरकारी रियासत है। पूर्व में नैपाल, शारदा नदी और पीलीभीत प्रान्त है। दक्षिण की ओर बरेली, मुरादाबाद प्रान्त तथा रामपुर रियासत हैं, पश्चिम में बिजनौर प्रान्त है। इस तराई के भाग में कोई पर्वत आदि नहीं हैं किन्तु हिमालय पर्वत के निकट होने से पहाड़ी जातियों से अधिक सम्पर्क हो गया है, जब वे अधिकतर दक्षिण की ओर शरद्ऋतु में नीचे उतरते हैं।

इस प्रदेश की मुख्य नदी शारदा है जो खटीमा तहसील की सीमा बनाती है और उसे नैपाल से अलग करती है। चौका, सनिहा, खकरा, लोहिया, जगबूरा और कौनीर खटीमा तहसील में, दोहा और कैलाश नानकमता परगना और बहगुल सितारगंज में बहती हैं। थारु-देश को दोहा नदी ने निकटतम दो भागों में विभाजित कर दिया है। इस नदी ने दोनों भागों की सभ्यता की उन्नति और साधारण बुद्धि के विकास की सीमाओं में एक प्रकार की भिन्नता निर्धारित कर दी है। खटीमा तहसील में थारु अधिक उन्नतिशील तो हैं ही, वरन् उनमें एक प्रकार की सामाजिक चेतना अधिक मात्रा में वर्तमान है जो उनके जाति-सुधार-आन्दोलन के रूप में प्रकट हो चली है।

थारु-देश का जलवायु आर्द्र, अस्वास्थ्यकर एवं असत्कारी है और निकटवर्ती मैदान की अपेक्षा मुख्यतः दिन और रात के ताप-क्रम के अंतर के कारण भिन्न है जो कदाचित् यहां की ज़मीन की बनावट के कारण है और जो इस प्रदेश के थारुओं को ग्रीष्मऋतु के आरम्भ और वर्षाऋतु में उत्पन्न होनेवाले रोगों (विशेषकर मलेरिया) से गिरा देता है। यहां पर ५०" से ६०" तक प्रतिवर्ष वर्षा होती है। गर्मी में अधिक गर्मी तथा जाड़े में कड़ाके की सर्दी पड़ती है।

थारु एक मंगोल जाति है जिसकी उत्पत्ति मिश्रित है। ये लोग कई उपजातियों में विभाजित हैं जैसे बद्दा, बिरतिया और रावत जो परस्पर अंतर्जातीय विवाह ही करते हैं परन्तु इस प्रथा का पालन अत्यंत कठोरता से नहीं किया जाता है। सभ्यता की दृष्टि से यह अधिकतर हिन्दू जाति की ओर बढ़ रहे हैं, क्योंकि इनमें एक प्रबल आंतरिक

इच्छा है कि ये भी हिन्दुओं की तरह अपने सब त्योहार मनायें। हिन्दुओं के अधिक सम्पर्क में आने से थारुओं की बोली ने हिंदी-भाषा को अधिक अपना लिया है जो कदाचित् उनके जीवित रहने के लिये परमावश्यक थी। हिन्दी ने एक प्रकार से बलपूर्वक थारुओं पर अपना आवरण डाल दिया था; क्योंकि जो लोग उनके अधिक सम्पर्क में आये, वे प्रायः हिन्दी-भाषा-भाषी थे जो थारुओं से किसी भी प्रकार का संबंध रखते थे।

इस शताब्दी के आरम्भ में ही और अपनी जीवित स्मृति के अनुसार हम थारुओं को अधिक कठिनता से समझ पाते थे; किंतु अनवरत सम्पर्क ने उनकी भाषा और विचार-प्रणाली को अधिक रूप में परिवर्तित कर दिया है।

थारु वनवासी हैं। वे कभी भी सुख नहीं पाते हैं यदि वन और नदियों से अलग हो जाते हैं, क्योंकि वे आदिकाल से उनके संगी हैं। ये लोग कुशल शिकारी, मछलीप्रेमी, सरल और हंसमुख होते हैं और वन के जीवन में विभोर रहते हैं। वे अपनी तांत्रिक और जादू की क्रियाओं के लिये अत्यंत प्रसिद्ध हैं। उनके समाज में एक धार्मिक नेता अथवा वैद्य होता है जो 'भरारा' कहलाता है। वह उनकी बीमारियों को दूर करता है, उनको विघ्नकारी शक्तियों से बचाता है और उनके कुटुम्ब तथा पशुओं की देखभाल करता है। थारु लोग शिकार खेल-कर, मछली मारकर, वन के कंदमूल और फल एकत्र करके गायों और भैंसों को चराकर, मुर्गियों और बकरियों को पालकर तथा खेती करके अपना जीवन निर्वाह करते हैं। खेती इनके लिये सबसे महत्त्वपूर्ण भोजन प्राप्त करने का साधन है। ये अधिकतर बंजारों और पहाड़ियों से अपना लेन-देन करते हैं। उनका परम्परागत अतिथि-सत्कार, उनकी सरलता, सत्यता, सहयोगकारिता, संघचेतनता, परस्पर अधीनता, एवं स्वच्छंदता आदि गुणों ने उनको अपने पड़ोसियों और जो किसी समय भी इनके उपनिवेशों को आता है, अत्यंत प्रिय बना दिया है। परन्तु स्त्रियों की अधीनता और उनके आर्थिक तथा सामाजिक जीवन में महत्त्वपूर्ण स्थान ने थारुओं को एक रहस्यपूर्ण जाति बना दिया है और बहुत सी

कहानियां तथा उपाख्यान भी चल पड़े हैं, जिनमें इनके जादू का विचित्र वर्णन है। थारु-जाति के समान दृढ़संकल्प-वादियों ने अपने जीवन के चक्र को अत्यंत संगठित बना लिया है जिससे उनके सारे कार्यकलाप ऋतुओं के अनुसार चलते रहते हैं, उनके विवाह केवल माघ मास में ही होने चाहिए जिसके बाद ही होली आती है जब थारु अपना होली का त्योहार मनाते हैं जो अत्यंत महत्त्वपूर्ण सामाजिक मिलन होता है और आमोद-प्रमोद के साथ मनाया जाता है।

होली

होली का त्योहार थारु जाति में माघ की पूर्णमासी से आरंभ होता है, जब सारे पुरुषगण—जवान और बूढ़े भूमसेन को जाते हैं (भूमसेन एक प्रकार का ग्राम्य देवता है, जो प्रत्येक ग्राम के समीप स्थित होता है जहां सारे देवी और देवता एक पीपल के वृक्ष के नीचे बने होते हैं) यहीं सब लोग होली रखने आते हैं। पधान अर्थात् गांव का मुखिया उन सबको भूमसेन के समीप ले जाने में नेतृत्व करता है। वह अपने साथ में एक गुड़ की भेली, घी और लौंग एक थाली में संजोकर तथा एक लोटे में पानी लाता है और अन्य मनुष्य तथा बच्चे अपने हाथों में पांच कंडे लिये हुए उसका अनुसरण करते हैं। ये लोग अपने साथ ढोल और झांझ भी ले जाते हैं। जब पधान भूमसेन को पहुंचता है, वह अपने जूते उतार देता है और घी, लौंग तथा गुड़ की आहुति आग में देकर सब देवियों को भेंट देता है। तत्पश्चात् पधान के नेतृत्व में आये हुए लोग पांच-पांच कंडे उस भूमसेन के निकट एकत्र करके रखते हैं। फिर पधान सबको गुड़ का प्रसाद देता है। इस समय वे होली के गीत गाते हैं जो उस अवसर के लिये ही होते हैं और जिनको "सिमरौनी छंद" कहते हैं जो देवी को 'मल्हाने' अथवा मनाने के लिये गाये जाते हैं।

सिमरौनी छंद

नगरकोट धान जहां देवी भवानी
काहे को दोउ बैल बनी रे बहली
नागौरी दोउ बैल चंदन की बनी रे बहली

थारु कन्या

कौन वो बैठनवारो कौन वो हांकनवारो ?
कालका भई असवार लंगूरा रथ हांकनवारो।
कौन वो बैठनवारो कौन वो हांकनवारो ?
पारवती भई असवार लंगूरा रथ हांकनवारो ।
कौन वो बैठनवारो कौन वो हांकनहारो ?
हुलका भई असवार लंगूरा रथ हांकनवारो ।
कौन वो बैठनवारो कौन वो हांकनहारो ?
सीतला भई असवार लंगूरा रथ हांकनवारो।
कौन वो बैठनवारो कौन वो हांकनहारो ?
ज्वाला भई असवार लंगूरा रथ हांकनवारो।
कौन वो बैठनवारो कौन वो हांकनहारो ?
दुर्गा भई असवार लंगूरा रथ हांकनवारो
कौन वो बैठनवारो कौन वो हांकनहारो
दुर्गा भई असवार लंगूरा रथ हांकनवारो

इस अवसर पर थारु लोग केवल प्रार्थना के ही गीत ढोल और झांझ की ध्वनि के साथ कुछ समय तक गाते हैं और फिर उनकी टोली पधान के घर लौट जाती है जहां अत्यंत प्रेम और आदर के साथ पधान की स्त्री पधानियां उनसे मिलती है । यहां पर भी लोग होली के गीत गाते हैं परन्तु अश्लील गीतों का प्रयोग नहीं करते ।

होली गीत

मेरे बार ए कान्हा सैयां अदान बलमा छोटी कै सक दिल समुझैहों
बांध लई पगड़ी पैंध पैजामा पटुका कमर लगाव
ठाढ़ी घना बांकी अरज करत है कहां की सुरति संभारै
नंगे हाथ मोंहि बुरे लगत हैं नन्ही-नन्ही अंगुरि में छाले
पैंधन के कंकन बनवाय दे आखिर घना तुम्हारि
कंकन गढ़ी सिताब देवरे गोरी केररे लगाई
कंकन पहन मगन भई राधा पिया मनहुन भाई
सात सखी करी सलामैं नैना नीर बहाये
जुग-जुग जीवैं तुम्हरे मरादा जहो रे और संवाई

सास की चोरी करी चन्द्रावलि खासी दहिया जमाई
लै मटुकी डिगरी विंदरावन जंगल जाय पुकारी ।

अंत मे पधान उस गानेवाली टोली को एक भेली गुड़ भेंट करता है और फिर वे अपने-अपने घरों को बिदा हो जाते हैं। वे विश्वास करते हैं कि आज से फागुन शुरू हो गया है। आज वे जिस दिन से चाहें होली खेल सकते हैं, होली-गीत गा सकते हैं परन्तु साधारण रूप से वे लोग एकादशी के पश्चात् ही होली खेलना आरम्भ करते हैं। थारु लोग सफेद अंगिया, पैजामा, साफा और एक लाल पटुका कमर में पहनते हैं और हाथ में एक रूमाल भी रखते हैं। ये लोग केवल होली में अपने पैरों में घुंघरू बांधते हैं और विवाह में यही कपड़े पहनते हैं, किन्तु घुंघरू नहीं बांधते। यही केवल ऐसा अवसर होता है जब स्त्री और पुरुष अलग-अलग नृत्य करते हैं। वे कभी-कभी खिचड़ी होली भी खेलते हैं, जिसमें स्त्री और पुरुष साथ-साथ मिलकर नाचते हैं। मदिरोन्मत्त होने पर वे अपने मस्तिष्क की स्थिरता खो बैठते हैं। स्त्रियां प्रत्येक पुरुष के बाद नृत्य में खड़ी होती हैं।

स्त्री और पुरुषों की टोली प्रत्येक गांव में एक घर से दूसरे घर को जाती है। वे सब होली खेलते हैं।

रात को गीत गाते हैं। प्रत्येक घर से उन्हें गुड़ अथवा मदिरा फगुवाही रूप में देते हैं, जैसा वे खर्च कर सकते हैं। टोली में पुरुष दो भागों में विभाजित हो जाते हैं। एक भाग के लोग गीतों की पंक्तियां आरम्भ करते हैं और दूसरे ढोल, मृदंग, झांझ पर उन्हें दोहराते हैं। स्त्रियां भी दो टोली में बँट जाती हैं पर वे किसी बाजे की ध्वनि पर न गाती हैं, न नृत्य करती हैं।

गीत

१. मन मानत नाहीं जिनके पिया परदेसी ।
सावन फूली सुरही भादों लाल गुलाब
गोरी-धन फूली नैहर रे उनको चालो* न होय
लौंग बिरछ को बिरुला रे पिया गये हैं लगाय

---

* गौना ।

सींचन की सुधि लीजो कुम्हलाय न जाय
चैत बैसाख दोनों मिल गये उनको चालो न होय
एक संदेशो' कह्यो रे उनको चालो न होय
बैठी चाबेंगी पान जिनके पिया परदेसी।

२. सोवन दे चित लाय पिया दोनों नैनन नींद भरी
घरी रे घरी मेरो अंचल उमकै जोबना अधिक जुड़ावै
जो मन होय सो कर ले पिया दिल की तपन बुझावै
ऐसे के होती तुलसी की माला रहती गले हिरदय लपटाय
ठाढ़ो रइये रे ललना कदम बिरछ की जरलौं जो ठाढ़े रहिये
गगरी मैं घर धरि आवों चुनरी में ओढ़ि आऊं करि
आऊं सकल सिंगार।

होली बघारना

इस प्रकार थारु लोग फागुन की पूर्णमासी तक होली खेलते हैं, इस दिन वे होली में आग लगाते हैं, इस रीति को 'होली बघारना' कहते हैं। जिस दिन पूर्णमासी होती है उस दिन स्त्रियां अपना सारा घर साफ करती हैं और पुरुषवर्ग अपने गांव के पधान के नेतृत्व में भूमसेन को जाते हैं जहां उन्होंने होली रक्खी थी। प्रत्येक व्यक्ति कुछ कंडे और चावल ले जाता है, परन्तु पधान इन वस्तुओं के अतिरिक्त घी, लौंग, गुड़ और पूरी एक थाली में संजोकर तथा एक लोटा स्वच्छ जल ले जाता है। भूमसेन के निकट पहुंचकर पधान देवियों को सर्वप्रथम भेंट चढ़ाता है। फिर आग बनाकर उसे तिनकों के अंके पर रखता है और होली की सात परिक्रमा लगाकर उसमें आग लगा देता है। प्रत्येक व्यक्ति उसका अनुसरण करके होली में कंडे डालता है। फिर पधान पूरी और गुड़ का प्रसाद बांटता है। तत्पश्चात् वे उस होली के चारों ओर परिक्रमा करते हुए नाचते हैं और उसमें अक्षत डालते हैं।

बारहमासा

अरी सजन बिना कौन हरै दुख पीरा
आय असाढ़ उमड़ जल बरसै सावन बरस गंभीरा

भादों में जब बिजुली चमकै थर थर होय सरीरा मेरा
क्वांर कमल जल फूलन लागै कातिक निरमल नीर
अगहन में मोंहि सीत सतावै थरथर होय सरीरा मेरा
आये पूस चलै पुरवय्या माह सीतल भई छाती
फागुन होरी कैसे खेलौं काके छिरकों अबारी मेरा
चैतमास फूलैं बनरय्या बैसाखे फल आये
जेठ मास पिया आवन कहि गये कब आये हैं रघुबीरा मेरा।

छलरी

दो-चार घंटों के बाद वे पधान के घर पर लौट आते हैं जहां वे 'छलरी' खेलते हैं जिसमें एक दूसरे के रंग और अबीर लगाते है और गोबर आदि भी डाल देते हैं। इसमें ग्राम के स्त्री, पुरुष, बच्चे सब भाग लेते हैं और एक आनन्दमय वातावरण प्रस्तुत करते हैं। इस समय में लोग अश्लील गीत और गालियां भी गाते हैं--

ऐसे नैना कहां से दुलहन पावों तिहारे ?
के तोरे नैना सांचे के ढारे कै हत गढ़ी सुनार ?
ना मेरे नैना सांचे के ढारे नाहत देखो नाहत गढ़ी सुनार
मइया बाप मेरे जन्म दिये हैं रूप दई करतार
बहू फिर हारि सम्हारो अपना संभारो तिहारे
लोहीरी लोहीरी अंगना बुढ़ारे अंगिया के बंद ढील परे
खैंच बान अंगिया बंद ढीले जुबना करत बहार
ऐसे जाड़े में बलमा तोहि जाने न देहौं
जब तुम धनियां जाने न दैहो
बनही में देखै बनही म तमुआ तनैहौं।
जो बलमा मोरे तमुआ तनैहौ
तमुआ की देखौं तमुआ की डोरी कटै ौ
जो धनिया तुम डोरी कटैहौ,
बनही म देखौं बनही में महल बनैहौं
जो बलमा मोरे महल बनैहौ
महल की रे देखौ महल की ईंट खसैहौं।

(इस गीत में स्त्री और पुरुष का वार्तालाप है)

इसके पश्चात् वे लोग अपने घरों को चले जाते हैं और स्नान करके भोजन करते हैं जो इस अवसर के लिए विशेषरूप से बनाया जाता है। आज से वे अपने घरों में नई आग रखते हैं।

मिलन

दूसरे दिन प्रातःकाल थारु लोग होली से राख उठा लाते हैं और पधान उसी राख से सब के टीका लगाता है और पधानी स्त्रियों के। यदि बनवाने की सामर्थ्य रखते हैं तो लोग आज नये वस्त्र पहनते हैं और एक दूसरे के घर जाकर होली मिलते हैं और राम-राम करते हैं। संध्याकाल मिलकर होली खेलते और गाते हैं।

है कोइ लाल गुलाल राधी रंग भरी
पाय पैजनियां अनवट बिछियां नेवर की झनकार--
मरोरा चाल चलै
पान से पतरी हरद से पेरी--मुख पतरो बक लाल
मरोरा चाल चलै।

खकरेरा

'मिलन' के पश्चात् आठ दिनों तक होली खेलते हैं परन्तु जितने आनन्द के साथ पहले खेलते हैं, उतना नहीं। इसको 'मरी हुई होली' कहते हैं। आठवें दिन खकरेरा की रीति मनाई जाती है। प्रत्येक घर से एक पुरुष सात मिट्टी के गोले जिनमें सीकें लगी होती हैं, लोगों के जोड़े, पचरंगा अनाज, जौ की बाली और टेसू के फूल मिट्टी के टूटे हुए घड़े के टुकड़े में लेकर थारु लोग गांव के दक्षिण सीमा की ओर प्रातःकाल सूर्योदय के पूर्व में पधान के साथ जाते हैं, जो इन वस्तुओं के अतिरिक्त लौंग, घी, गुड़, आग और पानी ले जाते हैं। पधान पृथ्वी पर होम करता है, उन मिट्टी के बर्तनों के टुकड़ों को और अन्य वस्तुओं को अपनी परिहारी से तोड़ता है। इसी का अनुसरण हर पुरुष करता है। फिर तालियां बजाकर सब लोग नदी की ओर स्नान करने के लिये दौड़ते हैं। इसके बाद वे पधान के मकान पर वापस आते हैं और छलरी खेलते, गीत गाते और पधान का दिया गुड़ खाते हैं।

होली-गीत

चन्दा चांदनी हो लाल नैका ठाढ़ो लादे जाय
उठकै न देखौ ननदी हो लाल कौन जदनियां जाय
हमरे बिरन तुमरे हो स्वामी हो लाल सांवर लादे जाय
सांवर को क्या लादती हो लाल बूंद परत ढुरि जाय
जब का लादत लौंग सुपारी हो लाल गलिन गली महंकार
हीना नैका चलो गयो है लाल पहूंचो गंगाघाट
गंग जमुन के घाट में लाल नैका लैहै पड़ाव
खूंटा गाड़त भोर भयो है लाल बैल बांधे ग्राधी रात
हारो नैका सोय गयो है हो लाल बधियन ढूंको चोर
बधियन को क्या मुंह सनो है जंगल को खर खाय
मुसियन हमसे गोरली हो लाल चलै चोर तेरो गांव

तत्पश्चात् वे अपने घरों को वापस आते हैं, भोजन प्राप्त करते हैं और होली खेलने तथा गाने लगते हैं पधान के घर पर।

होली-गीत

सीसी भर देख लाल मेरो पिया मद के पिवइय्या
मेरे उढ़न के सलुवा रे पिया लै गये उतार
जाय धरी कलबरिया या जन देहै कि नांय
मेरे उढ़न को घुंघटा रे पिया लै गये उतार
जाय धरी कलबरिया जन देहैं कि नांय
मेरे उढ़न के बंदी रे पिया लै गये उतार
जाय धरी कलबरिया जन देहै कि नांय
मेरे पहनन की हंसली रे पिया लै गये उतार
जाय धरी कलवरिया जन देहै कि नांय
मेरे उढ़न के हरवा पिया लै गये उतार
जाय धरी कलवरिया जन देहै कि नांय

बड़ी चराई (होली त्योहार का अन्त)

थारु अपने होली के त्योहार का अन्त खकरेरा में नहीं करता है। जब तक 'बड़ी चराई' की रीति न मनाई जाय, बड़ी चराई चैत मास

में मनाई जाती है। होली के समय स्त्रियां अपने मैके होली खेलने जाती हैं और प्रायः बड़ी चराई की पूजा के बाद ससुराल वापस लौटती हैं। भरारा—थारुओं की जाति का धार्मिक नेता—चैत के पहले अथवा दूसरे सप्ताह में सोमवार या बृहस्पति को 'बड़ी चराई' का दिन तय कर देता है।

'बड़ी चराई' के एक दिन पूर्व पुरुष, स्त्रियां और बच्चे किसी निकटवर्ती नदी को अपने जाल लेकर मछली पकड़ने चले जाते हैं। 'बड़ी चराई' के दिन 'भरारा' भूमसेन ग्रामदेवता के यहां जाकर गुड़, लौंग और घी की भेंट सब देवियों को देता है। स्त्रियां आज के दिन अनेक प्रकार के भोजन——जैसे मछली, पूरी, मीठा भात, लपसी, पपरा बनाती हैं और दोपहर को अपने सब सामान के साथ किसी आम के बाग में पधानियां के साथ जाती हैं। पधान और भरारा यहां पहुंचता है। फिर भरारा देवियों को भेंट देता है और स्तुति करता है कि हमारे गांव में सुख और शान्ति रहे। सब स्त्रियां भरारे को भोजन देती हैं। फिर पधानियां उपस्थित जनों को प्रसाद के रूप में पूरी इत्यादि देती हैं। इसका अनुसरण अन्य स्त्रियां करती हैं। तत्पश्चात् एक आम की घनी छाया के नीचे अपनी भोजन-सामग्री आपस में वितरण करके खाती हैं। भरारा, पधान तथा अन्य पुरुष जो वहां होते हैं, भाग जाते हैं ताकि स्त्रियों की अश्लील गालियों से बच सकें। वे सब यहां 'छलरी' खेलती हैं और जो पुरुष उधर से जाता है, उस पर पानी फेंकती हैं। वे बाग में सूर्यास्त तक बैठती हैं और ढोल के साथ सुन्दर तथा अश्लील गीत गाती हैं।

होली

लिखैं सैंया नहि पाती साम बिना पछ्ताती
नैहर नगरी भावत नाहीं सुधि ससुरे की आती
सैंया बेदरदी दरद न लागै उमड़ रहीं दोउ छाती
बचाऊं मैं कैसे थाती साम बिना पछ्तातो।

इस 'बड़ी चराई' त्योहार के पश्चात् जो होली का प्रमुख अंग है और जिसे स्त्रियों की होली कहा जा सकता है, होली का अंत हो जाता

है। स्त्रियां अपनी ससुराल को लौट आती हैं। होली के अंत का वर्णन गीतों में अत्यंत सुन्दर किया गया है।

होली

काहे के चित तोरौ री गोरी कल्ल जायगी होरी
सलुवा मेरो लवो धरो है घुंघटा मे मन मेरो री गोरी
घुंघटा मेरो लवो धरो है बन्दी में मन मेरो री गोरी
बन्दी मेरी लई धरी है बिंदिया में मन मेरो री गोरी
बिंदिया मेरी लई धरी है सुरमा में मन मेरो री गोरी
सुरमा मेरो लवो धरो है नथुनी में मन मेरो री गोरी
नथुनी मेरी लई धरी है हंसुली में मन मेरो री गोरी
हंसुली मेरी लई धरी है हरवा में मन मेरो री गोरी
हरवा मेरो लवो धरो है चौकी में मन मेरो री गोरी
चौकी मेरी लई धरी है डोरिया में मन मेरो री गोरी
डोरिया रे मेरी लई धरी है फुवती में मन मेरो री गोरी
फुवती मेरी लई धरी है बिछिया में मन मेरो री गोरी

थारुओं के होली-गीतों का संग्रह शीघ्र ही प्रकाशित करने की योजना 'इथीनोग्रैफिक एण्ड फोक कल्चर सोसाइटी' द्वारा की जा रही है जिससे उनके सामाजिक जीवन को समझने में और अधिक सहायता मिलेगी।

लोक-गीतों का सांस्कृतिक महत्त्व और उनका कवित्व *

लेखक—नरेशचन्द्र

इस विषय पर दो मत नहीं हो सकते कि उन लोक-समुदायों के लोक-गीतों का संरक्षण कितना महत्त्वपूर्ण तथा आवश्यक है जो अभी तक नवीन संकर-सभ्यता के दुष्प्रभावों से किसी प्रकार बचे हुए है और इसी कारण अपने सामाजिक धर्म-कर्म तथा सरल मनोविनोदों का नैसर्गिक सौन्दर्य इस सभ्यता के ध्वंसक प्रभाव से अक्षुण्ण रख सके हैं। इससे भी इन्कार नहीं किया जा सकता कि हमारी राष्ट्रीय संस्कृति धारा के उत्तरोत्तर विकास में सदियों से जिन असंख्य उपधाराओं ने अपनी अमूल्य देन प्रदान की है उनके सांस्कृतिक तथा सामाजिक अध्ययन के लिए ये लोक-गीत कितने उपयोगी एवं प्रामाणिक सामग्री हैं। परितोष का विषय है कि हमारे कवियों और विद्वानों का ध्यान तथा रुचि लोक-गीतों के प्रति उत्तरोत्तर बढ़ रही है। हमारे राष्ट्रीय तथा सांस्कृतिक जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में इतने वेग से अकल्पितपूर्ण परिवर्तन हो रहे हैं (अन्य दृष्टियों से उनका महत्त्व कम न करते हुए भी) कि लोक-गीतों तथा लोकसंस्कृति को एक महान् संकट उपस्थित हो गया है। इसलिए इस दिशा में अपने उद्योगों व प्रयत्नों को आज और भी अधिक तीव्रतर करने की आवश्यकता है। लोकसमुदायों की उन्नति तथा विकास के हेतु हमारी सरकार तथा अन्य लोकहितैषी संस्थाएं, विविध समितियां तथा कमीशन नियुक्त कर रही हैं। इस प्रकार सुधार के नाम पर उनके कठोर, शुष्क तथा नीरस जीवन में सरसता व मनोरंजन के एकमात्र साधन लोकगीतों पर कुठाराघात किया

---

* यह लेख अँगरेजी में लोक-संस्कृति सभा यू० पी० की लोक-गीत-माला के तीसरे पुष्प के परिचयस्वरूप लिखा गया था।

जा रहा है । ज्यों-ज्यों ये लोग परितः व्यापक तथा अपेक्षया अधिक उन्नत संस्कृति के सम्पर्क में आ रहे हैं अपनी पिछड़ी तथा भोंडी संस्कृति के प्रति इनमें हीनभाव पैदा हो रहा है । इन लोकसमुदायों में बाह्य प्रभाव को ले जानेवाले केवल ये 'समाज-सुधारक' ही नहीं, कदाचित् इनके अपने नवयुवक भी इसका वहन करते हैं । इन समुदायों के कुछ ऐसे सौभाग्यशाली नवयुवक जिन्हें उच्च शिक्षा की सुविधा तथा बहि-र्जगत् के सम्पर्क में आने का अवसर प्राप्त होता है अपने लोगों व अपने रीति-रिवाजों पर अत्यंत लज्जा का अनुभव करते हुए इस दृढ़ निश्चय के साथ अपने जन्म-स्थानों को लौटते हैं कि वे उन लोगों को तिमिर-कूप से निकालकर ही विश्राम लेंगे । उनके इरादे उत्तम होते हैं, किन्तु अफसोस कि वे नहीं जानते कि समाज-सेवा के अत्युत्साह में कितनी अमूल्य निधियों का संहार करने को वे उद्यत हुए हैं । अपनी लोक-संस्कृति को बाह्य संस्कृति के समकक्ष ला खड़ा करने के लिए वे अत्यंत उतावले होते हैं, और इस प्रकार उनके प्रयत्नों के फलस्वरूप लोकसंस्कृति तथा लोकगीतों को अपनी अस्तित्व रक्षा के निमित्त महान् संकट का मुकाबला करना पड़ता है । इस जीवन-संघर्ष के परि-णाम से हम भली भांति परिचित हैं और कई दृष्टियों से इस पर हमें रोष भी नहीं, क्योंकि यह हमारी इच्छानुकूल और हमारे सक्रिय उद्योगों का ही वांछित फल है । परन्तु हमें इस उत्तरदायिता को अवश्य अनुभव करना चाहिए कि इन सदिच्छाओं की पूर्ति की प्रक्रिया में कितनी अमूल्य निधियों के सर्वनाश का भय है । इस प्रसंग में फादर एलविन का एक उपयुक्त अवतरण उद्धत करने का लोभ मैं संवरण नहीं कर सकता—

"आदिवासियों की नई सभ्यता के सम्पर्क में आने से जो अत्यन्त शोचनीय परिणाम होते हैं उनमें सबसे अधिक भयंकर है उनकी संस्कृति तथा कला का विनाश । इस खतरे की तरफ निर्देश करते हुए विलियम मौरिस ने आशंका प्रकट की थी कि सभ्यता का वर्त्तमान प्रवाह उनके जीवन सौन्दर्य को बिलकुल नष्ट कर देगा । भारत के आदि-समुदाय के लिए यह केवल आशंका ही नहीं रही, अपितु आगत संकट

है। यहां भी मि० पम्बल कुक ऐसे व्यक्तियों का अभाव नहीं जो प्रत्येक सुकुमार बालक को अंकगणित की सहायता से अपनी समस्याओं का समाधान करता हुआ देखने के लिए व्यग्र हैं। भारतीय पम्बल कुक आदिवासियों को सभ्य बनाने की भरसक कोशिश करते हैं, परन्तु वे केवल उन्हें शुष्क एवं नीरस व्यक्ति बनाने में ही सफल होते हैं। धर्मप्रचारकों तथा सुधारकों को——चाहे वे किसी भी सम्प्रदाय के हों—ब्रह्मा भी नहीं समझा सकते कि समुदाय-जीवन का रोमांस तथा रंगीन वैचित्र्य लोकगीतों के संरक्षण के लिए कितना आवश्यक है।

ज्यों-ज्यों ये लोग अधिक प्रबुद्ध तथा उन्नत हो रहे हैं और बहिर्जगत् के साथ सम्पर्क में आ रहे हैं इनमें अपने आदिम रस्म-रिवाजों के प्रति हीनता का भाव पैदा हो रहा है। जैसे-जैसे ये लोग व्यापार तथा उद्योग के चंगुल में फंसते जाते हैं अपने धर्म-कर्म तथा रीति--रिवाजों के सम्पादन के लिए इन्हें बहुत कम समय प्राप्त होता है, जिनके सम्पादनार्थ वस्तुतः एक स्वच्छन्द जीवन की आवश्यकता है। ज्यों-ज्यों ये लोग बाह्य-जगत् के साथ विविध प्रकार के मानव-सम्बन्धों में बंधते जाते हैं तथा आत्मपूरकता की दुनिया छोड़कर बाहर आ रहे हैं, इनके धर्म-कर्म तथा पर्व जिनका उस वातावरण में विशिष्ट महत्त्व है, अर्थ-हीन और उद्देश्य रहित जान पड़ते हैं। इस प्रकार प्राचीन लोकगीतों के लुप्त होने की आशंका है जब कि नई वृद्धि की कोई आशा ही नहीं। लोक-गायक मूक हो रहा है और जहां कहीं अब भी उसका स्वर यदा-कदा सुनने में आता है उसके गीतों पर (जैसा कि आगामी पृष्ठों में हम व्यक्त करेंगे) उन प्रभावों की छाप है जिनका लोकगीतों से अणु-मात्र भी सात्म्य नहीं। लोकगीतों की कोटि में गणना करने पर वे कृत्रिम एवं बनावटी प्रतीत होते हैं और उच्चकोटि की कविता के समक्ष नितान्त हास्यास्पद तथा अनुकरणमात्र जंचते हैं। उदाहरणार्थ इस संग्रह के ३२ वें गीत की प्रथम पंक्ति———

"इस नौ-मंजिल संसार का रचयिता कौन है ?"

एक मिथ्यादर्शन का प्रतिपादन करती है और इस पद्य की रचना समाज के सांस्कृतिक विकास की उस अवस्था की

द्योतक है जिसमें लोकगीतों का सर्जन असम्भव हो जाता है।

लोकगीतों की यह विशेषता है कि उनकी रचना मानव के सांस्कृतिक विकास की एक विशिष्ट अवस्था पर ही संभव होती है। अत्यंत प्रारम्भिक अवस्था में मानव में—कुछ विशिष्ट कलात्मक प्रवृत्तियों का उदय होने से पूर्व लोक-कवि के पास कहने के लिए कुछ होता नहीं और अत्युन्नतावस्था में जब समुदाय-जीवन की प्रादेशिक सीमाएं बहिर्प्रभाव के कारण छिन्न-भिन्न होने लगती हैं, लोक-कवि की अनुभूति पुनः निःशब्द हो जाती है। इस समय लोक गीतों के भण्डार में जिन नए गीतों की वृद्धि हो रही है, वे वास्तविक लोकगीतों से बहुत दूर हैं। देश के कोने-कोने से, बचे हुए पुराने लोक गीतों का संग्रह करते हुए इस बात को ध्यान में रखना अत्यंत आवश्यक है।

एक विशिष्ट प्रकार के विषय, वाक्य-रचना, कल्पनाएं और व्याजोक्तियां ही लोकगीतों की प्रकृति के अनुरूप होती हैं। जब समाज उस अवस्था को पार कर जाता है जिसमें यह सामग्री व साधन सुलभ होते हैं, लोकगीत-रचना भोंडी और हास्यास्पद बन जाती है। जब नूतन विचारों तथा प्रौढ़ चिन्तन से उद्भूत अनुभूतियों को आद्य भाषा तथा कल्पना के द्वारा अभिव्यक्त करने का प्रयास किया जाता है, कविता अनिवार्य रूप से हासास्पद तथा कर्णकटु हो जाती है। इसे अधिक स्पष्ट करने के लिए आल्हा के अनुकरण पर रचे गए गीतों को यहां प्रस्तुत किया जा सकता है। इस शैली की कविता के मौलिक विषयों--सामन्त द्वन्द्वों का वर्णन इसमें इतना प्रभावोत्पादक हुआ है कि कुछ आधुनिक लोक-कवि भी इस छन्द, वाक्य-रचना तथा कल्पना के द्वारा सामयिक शूरगाथाओं को गाने के लिए प्रेरित हुए। नेताजी की रंगून-युद्ध-यात्रा आधुनिक लोकगीतों का प्रिय विषय है, परन्तु घटना के अपने आप में अद्वितीय शौर्य देशभक्तियुक्त तथा दिव्य प्रेरणामयी होने के बावजूद भी पुराने आल्हा के मुकाबले में नए गीत वीरभावों का संचार करने में अणुमात्र भी सफल नहीं हो सके। नेताजी का शौर्य जिन भावनाओं को उभाड़ता है संभवतः वे लोकगीतों की प्रकृति से सात्म्य नहीं रखतीं। लोकगीत निश्चय ही एक प्रादेशिक

कविता है और राष्ट्रियता तथा देशभक्ति के विचार उसकी अनुभूति से परे की वस्तु हैं।

पुरानी पद्धति के युद्धों के वर्णन में प्राचीन लोकगीतों की सरल कल्पना बहुत सफल हुई है। लेकिन आधुनिक युद्धों की व्यूहरचना का वर्णन उसकी परिमित सामर्थ्य से परे की बात है। गरजती तोपों, चुंधियानेवाले कवच और ढालों, विशाल कृपाणों, सधे हुए भालों, चपल तुरंगों और पर्वताकार हाथियों का वर्णन आद्य भाषा में बहुत सुन्दर हो सकता है, परन्तु जब वायुयानों के एक दस्ते की उपमा चीलों के झुण्ड से दी जाती है तब ऐसा प्रतीत होता है कि अलौकिकता को उपहासास्पद बना दिया गया है।

भाषा और कल्पना के इन विशिष्ट गुणों के अतिरिक्त लोक-काव्य में आधुनिक विषयों का वर्णनमात्र कर्णकटु प्रतीत होता है। वीर-रस-प्रधान लोकगीतों का एक अनिवार्य गुण है ऐतिहासिक नायक को पौराणिक व्यक्ति में परिणत कर देना। यह परिणमन तभी संभव है यदि वर्ण्य विषय बहुत प्राचीन हो ताकि उस काल के रीति-रिवाजों का हम जैसा वर्णन करें तद्रूप में ही श्रोता स्वीकार कर लें। काल का अन्तर घटना में अनुपम आकर्षण पैदा कर देता है। धुंधला अस्पष्ट भूत प्रकृत्या जिस रोमाञ्चक गरिमा में परिवेष्टित रहता है, कल्पना के आतान-वितान का आश्रय लेकर भी वर्तमान घटना में उसका आरोप नहीं किया जा सकता। केवल घटना सामीप्य ही नहीं, श्रोतृवर्ग की मानसिक रचना भी एक बड़ा बाधक कारण है। मानवी नायकों तथा उनके कृत्यों का पौराणिक गाथा में परिणमन केवल पारमार्थिक चिन्तन से ही संभव है जिसे "स्वेच्छया अविश्वास का स्थगन" कहा जाता है। इससे आज का सजग और अविश्वासी मस्तिष्क बहुत दूर है। संभव है पूर्वापेक्षया हम अधिक बुद्धि-जीवी तथा सयाने हो गए हों परन्तु इसके लिए हमें कई विशिष्ट सौन्दर्यानुभूतियों का बलिदान करना पड़ा है।

इन दोनों कारणों--भाषा तथा कल्पना की सीमा और आज

के मस्तिष्क की सजगता तथा संदेही प्रवृत्ति--के अतिरिक्त तीसरा कारण है--आधुनिक जीवन की जटिलता। आधुनिक जीवन के क्रिया-कलाप--चाहे उनका क्षेत्र व्यापार हो चाहे सामाजिक प्रवृत्तियां व युद्धभूमि--विकसित कवि-प्रतिभा तथा भाषा के लिए भी अगम हैं, फिर आदिम भाट अथवा आधुनिक नक्काल का तो कहना ही क्या ? इस समय परिवर्तन इतने वेग से हो रहे हैं कि उन्हें पकड़ पाना कठिन हो रहा है, और इसने ऐसे साहित्य की अभिसृष्टि की है, गलती से जिसे आजकल दुरूहवाद पुकारा जाता है। नवीन आविष्कारों तथा अनुसंधानों के परिणामस्वरूप नए विचारों की सृष्टि इस वेग से हो रही है कि भाषा की प्रगति उनके साथ कदम मिलाकर नहीं चल पा रही है। इससे पूर्व की भाषा नए विचारों को सर्वग्राह्य तथा सर्वसम्मत अभिव्यंजना प्रदान कर सके वे समयातीत हो जाते हैं, और उनका स्थान नए ग्रहण करते हैं जिनको पुनः नवीन अभिव्यंजना की आवश्यकता होती है। यह दशा है उस भाषा तथा साहित्य की, जो एक सुदृढ़ साहित्यिक परम्परा पर आश्रित है और फिर एक अविकसित आद्यभाषा में इतनी सामर्थ्य कहां कि इन प्रभावों को पूर्ण अभिव्यंजना दे सके। सच्चे लोकगीत वस्तुतः सरल और आदिम विचारों का ही भार वहन कर सकते हैं और ज्यों ही ये विचार बहिर्जगत् से प्रभावित होने लगते हैं वास्तविक लोकगीतों का प्रणयन रुक जाता है। इस समय देश का एक भी कोना ऐसा नहीं जो पम्बलकुक ऐसे उपकारी जीवों के अत्युत्साह, पिकविक ऐसे लोगों की वैज्ञानिक जिज्ञासा और अवकाश-यापन हेतु नए शौकों की खोज में रहनेवाले स्नाडग्रास ऐसे प्राणियों से अदूषित बच सका हो। ऐसी वस्तुस्थिति में नष्टप्राय लोकगीत-भण्डार में नई वृद्धि की क्या आशा की जा सकती है।

विचारों तथा भाषा की सरलता के साथ-साथ लोकगीत-सर्जन के लिए भाव-सरलता भी आवश्यक है। भावपरितः व्यापक सृष्टि के प्रति हमारी प्रतिक्रिया का परिणाम होते हैं। जहां यह वातावरण सरल एवं अजटिल होता है भाव भी सीधे-सादे, निश्छल तथा संक्षिप्त होते हैं। जब आदिसमाज में एक लाड़ली वधू परदेशगामी पति से वापसी पर गहने

तथा कपड़े-लत्ते लाने के लिए अनुरोध करती है तो उसमें एक अतुलनीय सम्मोहकता एवं निष्कपट आकर्षण होता है। परन्तु एक आधुनिक नारी जब अपने पति को ब्रूच, रेडियो, रेफ्रिजेटर ला हाजिर करने का आदेश देती है वे समस्त भावनाएं विलुप्त हो जाती हैं। जब कि प्रथम अनुभूति से कई सुन्दर लोकगीत अनुप्राणित हुए हैं, द्वितीय से शिरोवेदना करनेवाले लोकगीतों से अधिक नहीं लिखा जा सका। कारण स्पष्ट है। आदि समाज के सरल वातावरण में एक नववधू शृंगार के साधन एक आभूषण पर अपना समूचा ध्यान केंद्रित कर सकती है और उसके लिए भावुक हो सकती है, परन्तु आधुनिक नारी की प्रवृत्तियां—मानसिक और भौतिक—इतनी विविध एवं बहुमुखी हैं कि वह एक ही वस्तु पर एक क्षण के लिए भी न अपना ध्यान केन्द्रित कर सकती है और न शुद्ध भावावेश में आ सकती है। लोक-काव्य के प्रिय विषय गृहस्थ-जीवन का वह सरल सौन्दर्य आधुनिक जीवन की ग्राहकता से परे की चीज हो गया है।

उल्लिखित कारणों से क्षीयमाण लोकगीत भण्डार में नई वृद्धि की कोई आशा ही नहीं, यह कारण उपलब्ध लोकगीतों के संग्रह तथा संरक्षण के पक्ष में एक अन्य जबर्दस्त हेतु है। लोकगीत तथा लोक-संस्कृति सामाजिक संस्कृति में नवजीवन संचार करने के लिए प्रेरणा के अजस्र स्रोत हैं। जब जब गतिरोध से संस्कृति में विकार आने लगता है, समाज के निर्माता सहज ही लोकसंस्कृति के अक्षय स्रोत की ओर अभिमुख होते हैं। अवध का नवाबी राज के अंतिम दिनों का संगीत-इतिहास हमारे इस कथन की सम्पुष्टि करता है। प्राचीन राग-रागिनियों का भण्डार जब जीवनरहित सारहीन तथा पर्युषित होने लगा तो उस समय के महान् संगीत-विशारद लोकगीतों की ओर झुके और उनसे दादरा और ठुमरी ऐसे सुन्दर रागों की सृष्टि की जो संगीत-जगत् में आज भी प्राचीन रागों के मुकाबले में अपना विशिष्ट स्थान रखते हैं।

पिछली शती में हम पर थोपी गई विदेशी संस्कृति तथा हमारी राष्ट्रीय परम्परा के परस्पर मिश्रण से उत्पन्न सामञ्जस्यहीन दुष्प्र-

भावों के प्रति जब हम उद्बुद्ध हुए तो हमारा ध्यान बलात् लोक-संस्कृति की यावत्शेष श्री-शोभा की ओर आकृष्ट हुआ। क्योंकि उसी अक्षय स्रोत से हम ऐसी बलवती प्रेरणा ग्रहण कर सकते थे जो अपमानजनक अनुकरण-प्रवृत्ति से हमें बचा सके। आज हम अपने फैशनेबुल जीवन में कई ग्राम्य रीति-रिवाजों को अपना रहे हैं। दैनिक अभिवादन में कृत्रिम 'नमस्ते' का स्थान 'जै रामजी की' ग्रहण कर रही है। लोक-कला के प्रतीक मिट्टी के देहाती खिलौने हमारे घरों की चिमनियों पर कीमती और प्राचीन चीना के समकक्ष स्थान ग्रहण कर रहे हैं। घास से बनी टोकरियों तथा ढक्कनों के भी चाय की टेबलों पर जब तब दर्शन हो जाते हैं। शहरी औरत का ब्लाऊज देहाती स्त्री के पूरी आस्तीन के सलूका का अनुकरण कर रहा है। आधुनिक ड्राइंग-रूमों की आरामकुर्सियां आज निःसंकोच मोढ़ा और मचिया की जो अभी तक एक ग्रामीण की झोपड़ी में सकुचे पड़े थे नकल कर रही हैं। ये कुछ स्थूल उदाहरण इसके प्रमाण हैं कि हम नवजीवन पाने के लिए लोकसंस्कृति की ओर कितना अधिक प्रत्यभिमुख हो रहे हैं। थोड़ा सा भी विचार करें तो पता चलेगा कि इस प्रक्रिया में लोकसंस्कृति उससे कहीं अधिक भाग ले रही है जितनी हम कल्पना करते हैं।

लोकसंस्कृति तथा लोककला के उक्त महत्त्व को सभी स्वीकार करते हैं। अतः इसके विस्तार में जाने की आवश्यकता नहीं। परन्तु इसका एक अन्य पहलू भी है जिस पर विचार-विमर्श करने की अत्यन्त आवश्यकता है। संभव है कि लोकसंस्कृति तथा लोककला के अनुसंधान के अत्युत्साह में हम अज्ञानवश कुछ आनुषंगिक भूलों के शिकार हो जायं। लोकसंस्कृति के छात्रों में एक आम प्रवृत्ति पाई जाती है--उपलब्ध सामग्री का अविवेकपूर्ण रीति से प्रयोग तथा प्रतिपाद्य विषय की सिद्धि के लिए उसकी खींचा-तानी। उनका उद्देश्य नवीन खोज नहीं, अपितु अपने पूर्वनिश्चित मन्तव्यों की पुष्टि के लिए येन केन प्रकारेण नयी सामग्री का प्रयोग करना होता है। इस संकेत का विन्यास यहां केवल लोकगीतों तक ही सीमित रखें। लोकगीतों में समुदायजीवन की आर्थिक अवस्थाओं की प्रतिच्छाया देखने

तथा भौगोलिक वर्णन ढूंढने की प्रवृत्ति भी पाई जाती है। उदाहरण स्वरूप एक निराशाभरा लोकगीत अनायास ही उस प्रदेश में पड़नेवाले अकाल तथा अनावृष्टि से प्रभावित समझ लिया जाता है। यह कोई अमहत्त्वपूर्ण भूल नहीं। इस भूल के शिकार इस क्षेत्र में नवप्रविष्ट कार्यकर्त्ता ही नहीं होते, अपितु उन देशों के परिपक्व बुद्धि विद्वान् भी यह गलती कर जाते हैं जहां इस प्रकार के अध्ययन की दृढ़ परम्परा स्थापित है। मध्यकालिक इंगलिश कविता के जीवन और मृत्यु संबंधी निराशावादी विचारों पर टीका करते हुए सर इजरायल गोलांक लिखते हैं—"प्राचीन आंग्लगीत काव्य का प्रचलित चिह्न अत्यन्त विषाद पूर्ण शोक है जो कि उत्तरी समुद्र और आकाश के अन्धकार के समान है और उसमें मूर्ति पूजक विश्वास का प्रारब्धवाद सम्मिलित है।

स्पष्ट है कि सर इजरायल गोलांक ऐसा विद्वान् इसे अगोचर कर गया कि किन माध्यमों में से गुजरकर इंगलिश कविता हम तक पहुंची है और उनके कौन-कौन से चिह्न इस पर अंकित हो गए हैं। प्राचीन इंगलिश कविता की पाण्डुलिपियां हमें ८ वीं शती से उपलब्ध होती हैं जिस समय इनका संग्रह तथा संरक्षण धार्मिक मठों में होता था। प्रकट है कि प्रारंभिक ईसाइयत की निराशावादिता का प्रभाव इंगलिश कविता पर अवश्य पड़ा होगा। लेकिन सर गोलांक इसको बिल्कुल नजरन्दाज कर गए। जातिशास्त्र के निमित्त लोकगीतों की व्याख्या करने में भी यह भूल हो सकती है। इसी प्रकार निराशावादी लोकगीतों को केवल आर्थिक कठिनाइयों तथा घुमंतू जीवन की अनिश्चितता से उत्प्रेरित समझने की भूल भी हम कर सकते हैं।

एक अन्य भूल भी हो सकती है—लोकगीतों के आधार पर उस समुदाय के इतिहास का निर्माण। लोकगीतों का प्रतिपाद्य विषय प्रायेणअर्धइतिहास होता है। हो सकता है कि कालक्रम के अनुसार इन गीतों को क्रमबद्ध करके हम सोचें कि जिन मुख्य-मुख्य अवस्थाओं में से होकर समुदाय विशेष की संस्कृति गुजरी है हमने उनकी एक स्थूल रूपरेखा तैयार कर ली है। यह भी

निर्देश करना प्रासंगिक होगा कि एक ऐतिहासिक चरित्र व नायक की ख्याति के काल का उसके ऐतिहासिक काल से प्रायः कोई संबंध नहीं होता। लोकगीतों में वर्णित देवी-देवताओं से लोकसंस्कृति में हुए धार्मिक विचारों के विकास की रूपरेखा तैयार करने की भूल भी हम कर सकते हैं।

आदिम मस्तिष्क अपने चारों ओर के दृश्यमाण जगत् से अधिक प्रभावित होता है और सूक्ष्म काल्पनिक सूझ के अभाव के कारण उसकी कविता में घटनाओं व दृश्य जगत् का वर्णन ही अधिक सामग्री पाया जाता है। इस दृष्टि से जातिशास्त्र के अध्ययन के लिए लोक गीत एक बहुत प्रामाणिक विवरण हैं। जो बातें विकसित मस्तिष्क को केवल काल्पनिक, कपोलकल्पित तथा दन्तकथामात्र तीत होती हैं, आद्य मस्तिष्क उन्हें निर्विवाद सत्य के रूप में स्वीकार कर लेता है। अतः आदिवासी-दिमाग मिथ्या विश्वासों का अधिक शिकार होता है और उन बातों को अनायास ही स्वीकार कर लेता है जिन्हें स्वीकार करने में आधुनिक मस्तिष्क काफी संकोच करेगा। इस कारण लोकगीतों में मानव-कल्पना का पर्याप्त मात्रा में समावेश स्वाभाविक ही है। अतएव इन गीतों के रचयिताओं के सांस्कृतिक विकास का अध्ययन करते हुए इस बात को अवश्य ध्यान में रखना होगा।

जातिशास्त्र के अध्ययन-हेतु लोकगीतों को प्रामाणिक सामग्री मानने पर हमारी संदेहदृष्टि तथा अन्य कुछ संभावित भूलों की तरफ निर्देश केवल इसलिए निराधार आशंकाएं ही नहीं कही जा सकती हैं कि इस रूप में लोकगीतों का प्रयोग अभी तक नहीं किया गया, अतएव उक्त खतरों की तरफ निर्देश अप्रासंगिक तथा असम्बद्ध है। परन्तु इतनी आसानी से उनकी अवहेलना कर देना भी भावी खतरों को जानबूझकर नजरन्दाज करना होगा। हमारे विद्वानों तथा कवियों में लोकगीतों के प्रति रुचि कुछ दिनों से ही उत्पन्न हुई है और जातिशास्त्र के अनु-कूल व्याख्या का प्रयास उससे भी नया है। इनके संग्रहार्थ जो उत्साह प्रदर्शित किया जा रहा है उससे हमें अभी से सावधान होने की आवश्यकता है। इस क्षेत्र में काम करनेवाले बहुत से अन्वेषक लोकगीतों

के नए भण्डार का पता पाते ही अविवेकपूर्ण उत्साह से अन्वेषण कार्य शुरू कर देते हैं, पं० रामनरेश त्रिपाठी और श्रीदेवेन्द्र सत्यार्थी ऐसों को छोड़ दीजिए जिनकी लोकगीतों में दिलचस्पी महज काव्य-दृष्टि से है। बहुत से संग्रहकर्त्ता इन लोकगीतों में जातिशास्त्र के लिए नूतन सामग्री खोजने लगते हैं।

अब हम लोकगीतों के काव्यमहत्त्व पर विचार करेंगे। जिस प्रकार जातिशास्त्र के अध्ययन के लिए लोकगीतों का महत्त्व अधिक आंकने की भूल हो सकती है, उसी प्रकार इनके काव्यमहत्त्व को कम आंकने की गलती भी हो सकती है। समालोचकों की यह आम धारणा है कि दैनन्दिन जीवन के क्रियाकलाप का यथातथ्य एवं कलाशून्य वर्णन करनेवाले इन लोकगीतों में काव्यांश अधिक नहीं है। उन लोगों के जीवन में कविता हो भी क्या सकती है जिन्हें अपनी रोजमर्रा की दिक्कतों तथा मुसीबतों से ही अवकाश नहीं मिलता कि ऊंची उड़ान ले सकें तथा स्वप्नलोक में विहार कर सकें। ऐसी धारणा का कारण हमारी निर्णय-बुद्धि का दोष है। कविता एक ही प्रकार की नहीं होती। ऐसी कविता भी हो सकती है जो कलापूर्ण शैली और भाषा में उच्च प्रेरणाओं, आदर्शों, तथा अनुभूतियों की अभिव्यंजना करे और ऐसी भी जो इन से विहीन हो, परन्तु ऐसे सजीव चित्र खींचने की सामर्थ्य रखे कि वे हृत्तन्त्री आन्दोलित कर दें। लोकगीत कलात्मक शब्दों व भावों की व्यंजना नहीं परन्तु वातावरण प्रधान-कविता हैं।

भाषा तथा कल्पना के गुणों का लोकगीतों में सर्वथा अभाव भी नहीं है। जरा सहानुभूति से इनका अध्ययन करने पर हमें इन गीतों में कल्पना का वह चमत्कार तथा उपमा और उत्प्रेक्षा की वह मौलिकता दृष्टिगोचर होगी जो अपनी ताजगी व नूतनता से हमारे साहित्यिक दंभियों की एकरसता को भी भंग कर सकती है।

यहां जिस बात से हमारा सम्बन्ध है वह यह नहीं कि इस दिशा में क्या किया गया है (क्योंकि अभी किया ही बहुत कम गया है) अपितु क्या करना है।

उदाहरण स्वरूप इस संग्रह के प्रथम गीत का उल्लेख यहां किया जा सकता है—शिशु के अंगूठे की उपमा सर्प के शिर से, उसके तलुवों की मधुकोष से (कोमलता में), उसके टखनों की माखन की टिकिया से, कमर के इकहरेपन की चींटी की कमर से, उसके स्कन्धों की कपोतों से (चंचलता में)—ये उपमाएं लोककवि की सूक्ष्म निरीक्षण शक्ति का परिचय देती हैं। परन्तु इस प्रकार की कविता लोकगीतों की प्रधान विशेषता नहीं, यह तो एक नितान्त भिन्न प्रकार की कविता है।

वातावरण-प्रधान कविता किसे कहते हैं इसे अधिक स्पष्ट करने के लिए ब्राऊनिंग की 'होम थॉट फ्रॉम अब्रॉड' नामक कविता को उदाहरण स्वरूप प्रस्तुत किया जा सकता है। जिन्हें इंगलैंड के वसन्त का अनुभव नहीं उनके लिए कविता का महत्त्व शब्दार्थ से अधिक नहीं लेकिन जिन्होंने उसका अनुभव किया है उनके हृदयों में कविता पढ़ते ही मधुर स्मृतियों, और देशभक्ति और प्रेम के भावों का एक तूफान उमड़ आता है। लोकगीतों की कविता भी लगभग इसी कोटि की है। लोकजीवन की अपनी कुछ ऐसी विशेषताएं हैं कि लोककविता का पूर्ण आस्वाद लेने के लिए उनका पूर्व ज्ञान आवश्यक है। दुर्भाग्यवश हमारे देश में लोकगीतों का संग्रहकार्य प्रारम्भ करनेवाले आर्करशिरेफ, एलविन प्रभृति लोग विदेशी थे। भारतीय लोकजीवन की मौलिक विशेषताओं से वे अनभिज्ञ थे और उस जीवन के प्रति उनमें कोमल भावों का भी अभाव था। इन कारणों से उन्हें लोकगीतों में किसी प्रकार की कविता के दर्शन नहीं हुए। हमारा उद्देश्य लोकगीतों के प्रति उनकी रुचि तथा प्रेम को घटाकर प्रस्तुत करना नहीं है, परन्तु यह सत्य है कि वे लोकगीतों की अन्तरात्मा को नहीं पकड़ सके जैसा कि हम इंगलैंड के सीमान्तप्रदेश की लोककविता को समझ नहीं सकते। हमारे देश में जो कवि तथा विद्वान् लोकगीतों के महत्त्व तथा सौन्दर्य के प्रति आकृष्ट हुए, उनमें यह कमी पाई जाती है कि उनका पालन-पोषण शहरी जीवन में हुआ है। चाहे उन्होंने लोकजीवन के मूल्यादर्शों, विशेषताओं तथा रीति-रिवाजों से कितना ही परिचय प्राप्त कर लिया हो, वे उनके साथ मृदुल सम्बन्ध स्थापित नहीं

कर सकते, क्योंकि उस जीवन में उनका पालन ही नहीं हुआ। यही कारण है कि लोकगीतों की आग इन दुर्वाहिक हृदयों के संसर्ग में आते ही मूर्च्छित हो गई और उन पर एक अनुचित फतवा दे डाला गया। अब हम पुनः लोकगीतों पर अपना ध्यान केन्द्रित कर रहे हैं ताकि लोक-संस्कृति को अच्छी प्रकार समझ सकें। यह भी एक रोचक प्रश्न उठाया जा सकता है कि लोकगीतों को अच्छी तरह समझने तथा सराहने के लिए लोकसंस्कृति क वातावरण में ही समूचा लालन-पालन क्या आवश्यक नहीं? इस बहस में न पड़कर हमें उन वातावरणों से अवगत होना चाहिए जिनमें लोकगीतों की कविता का निवास है।

सर्वप्रथम पारिवारिक संबंध तथा उनके चारों ओर का वातावरण आता है। भारतीय लोकजीवन अनिवार्यरूप से पारिवारिक जीवन है, रिश्तेदारियों का ताना बाना है। किसी सम्बन्धी के नाम ग्रहणमात्र से ही हमारे अन्दर विशिष्ट भाव उमड़ आते हैं और एक कल्पनाचित्र सामने खिच आता है। इस प्रकार देवर, जेठ, सास, ससुर, भौजी, ननद आदि केवलमात्र सम्बन्ध सूचक शब्द ही नहीं, ये एक बंदूक के घोड़े के समान हैं जिन्हें दबाते ही भावों का पूर आ जाता है। उस जीवन की घनिष्टताएं, गुप्तमन्त्रणाएं, और तिकड़में स्मरण हो आती हैं। उस जीवन की ईर्षा तथा स्वामिभक्ति के विचार जाग जाते हैं और एक लोकगीत जो घर गृहस्थी की चर्चा के कारण ऊपर से उकता देनेवाली पारिवारिक सम्बन्धों की तालिका प्रतीत होता है, वस्तुतः भावों को प्रदीप्त करने की एक महान् सामर्थ्य रखता है।

दूसरे पर आती हैं वे सामाजिक रीतियां तथा पारिवारिक प्रथाए जिनका निर्देश मात्र ही एक रोमांस में जादू का असर पैदा कर देता है। परन्तु उन प्रथाओं व रीतियों से अनभिज्ञ व्यक्ति उनको नजरन्दाज कर सकता है। उदाहरणस्वरूप, सावन का महीना वधू के अपने मायके लौटने से सम्बन्ध रखता है। परन्तु अपने मायके के लिए नववधू की वह आतुरता आज दृष्टिगोचर नहीं होती। प्रथम तो इसलिए कि पुराने टाइप की सहानुभूतिशून्य और क्रूर सास अब नहीं रही और अब विवाह अंधेरे में छलांग लगाने के तुल्य नहीं जैसा कि

लोकगीतों की पृष्ठभूमि में मिलता है; दूसरे, विवाह आज दम्पती की प्रेम-लीला का परिणाम होते हैं। अतः वधू को अपने पुराने घर के लिए विह्वल होने का प्रश्न ही नहीं उठता। जहां पर विवाह आज भी एक लाटरी है, उन लोकसमुदायों में वधू को अपने पति तथा उसके संबंधियों से मोह-मोहब्बत पैदा करने में समय लगता है, इस प्रकार वधू के विवाहित जीवन में यह एक ऐसा समय होता है जब उसका प्रेम दो मृदुल सम्बन्धों में विभक्त होता है। सावन मास का नाम ग्रहण ही वधू में एक विशेष प्रेम-विह्वलता पैदा कर देता है। लोकजीवन में जब विवाहित प्रेम पर्याप्त तीव्रता भी प्राप्त कर लेता है इसका रोमांस बहुत लम्बा चलता है अपेक्षया उसके जिसे अधिक उन्नत समाज का प्रणय विवाह पुकारा जाता है। संयुक्त परिवार में पति-पत्नी को प्रायः मिलने-जुलने की सुविधा प्राप्त न होने से तथा हृदय के आवेगों को यथेष्ट तृप्ति का अवसर न मिलने से प्रेम-गंध शीघ्र नष्ट नहीं होती। पति के प्रति पत्नी की विशिष्ट प्रेमाकुलता, अपने देवर तथा ननद के साथ उसकी तिकड़मबाजियां, जो प्रायः लोकगीतों का विषय रहती हैं, उन्हें सर्वथा भिन्न सामाजिक वातावरण में पोषित मस्तिष्क आसानी से समझ नहीं सकता

लोक वातावरण से सम्बन्ध रखनेवाली अन्यान्य चीजें हैं—आर्थिक दशा तथा भौतिक आवश्यकताएं। घुमन्तू कबीलों तथा सीमा पार के प्रदेशों से व्यापार करनेवाली जातियों में पत्नी की अपने पति की खतरों भरी यात्रा से सकुशल वापसी के लिए आकुलता तथा सशंकित दिल की धड़कन एक नितान्त भौतिक वस्तु के साथ ऐसे संबंध जोड़ देते हैं जिनको वे आसानी से हृदयंगम नहीं कर सकते जो उस जीवन से अनभिज्ञ हैं। अपनी फसल के प्रति कृषक के हृदय में जो वात्सल्य भाव उठते हैं उन्हें हम भली भांति अनुभव ही नहीं कर सकेंगे, यदि हम उनके जीवन पर केवल आर्थिक पहलू से ही दृष्टिपात करें। यह ठीक है कि एक फसल के नष्ट होने का मतलब है उनके जीवन-धारण पर तीव्र आघात, परन्तु उनकी आशंकाएं तथा आकुलताएं केवल उसी ढंग की नहीं होतीं। अपनी फसल के प्रति उनमें वात्सल्य भावना

का सर्वथा अभाव नहीं होता है। जिस आतुरता से सरसों के पौधे की २ पत्तों से ४ पत्तों में, ४ से ६ और फिर नन्हीं-नन्हीं टहनियों के फूटने और पीले फूलों के फूलने तक देखभाल की जाती है और उसमें कृषक-हृदय जिस आह्लाद का अनुभव करता है, भावों की तुला में उसे नहीं तौला जा सकता।

"भैया रे ! हमने सरसों बोई है, उसका परागपुष्प पीला है।" इस सादी अभिव्यञ्जना में हो सकता है कि हमें कविता--अंश अधिक दृष्टिगोचर न हो, परन्तु इसका कारण यही है कि हम सरसों के पौधे को कृषक की आंखों से नहीं देख सकते जो कृषक के लिए संचित उमंगों की साकार प्रतिमा है।

लोकजीवन से सम्बद्ध जिन अन्य चीजों का वर्णन किया जा सकता है वे हैं प्रकृतिज्ञान, ऋतुपरिवर्तन, पक्षियों का प्रेम जागृत करनेवाला मधुर गायन, इत्यादि। हो सकता है कि लोककवि इनके वर्णन में अधिक सफल न हो पाए, परन्तु उसे इस दक्षता की आवश्यकता ही नहीं होती क्योंकि इनका नाम वर्णनमात्र ही लोकमत पर ऐसा प्रभाव पैदा कर देता है जो एक महाकवि का कलात्मक चित्रण भी ठूठ हृदय पर नहीं डाल सकता। यदि कविता की परीक्षा उसके अपने गुण-दोष से नहीं, अपितु इससे की जाय कि वह श्रोता के दिल में क्या भावुक प्रतिक्रिया उत्पन्न करती है तो लोकगीतों की कविता किसी भी प्रकार घटिया श्रेणी की नहीं कही जा सकती।

हमारे लोकगीत

(उनका साहित्यिक और सांस्कृतिक महत्त्व)

लेखक—श्यामाचरण दुबे एम्० ए०, पी० एच० डी०

लोकसाहित्य—

आधुनिक काल के अपेक्षाकृत विकसित साहित्य की धारा का परम्परागत स्रोत हमारे लोकसाहित्य में है। अधिकांशत: मौखिक एवं अलिखित यह साहित्य हमारी विविध लोक-संस्कृतियों का दर्पण है। और इसमें हमारे परम्परागत विश्वास आचार-विचार और प्रथाएं, हमारे लोकजीवन का सुख और दु:ख तथा हमारा भूत और वर्त्तमान अब सुरक्षित है। देश की सर्वव्यापी नवीन सांस्कृतिक चेतना ने, हमें हमारी संस्कृति के इस अक्षय कोष की ओर उन्मुख किया है। संस्कृति के मूल तत्त्वों के अनुसंधान के लिए आज हम केवल प्राचीन भग्नावशेषों तथा प्रस्तर मूर्त्तियों एवं कतिपय दुर्गम शिला लेखों पर ही पूर्णरूप से आश्रित न होकर, उसे जनजीवन और उसकी उपलब्ध परम्पराओं में खोजने के लिए प्रयत्नशील हैं। लोकसाहित्य के विभिन्न अंग, केवल शुद्ध साहित्यिक दृष्टिमात्र से ही अध्ययन की वस्तु न होकर सांस्कृतिक अर्थात् मानवशास्त्र तथा समाज शास्त्र की दृष्टि में भी अत्यन्त महत्त्वपूर्ण हैं।

लोकसाहित्य का क्षेत्र अत्यन्त व्यापक है। मूलत: भारतीय लोक-साहित्य को ध्यान में रखते हुए, विषय तथा रचना-शैली की दृष्टि से हम उसे स्थूल रूप से निम्नलिखित वर्गों में विभाजित कर सकते हैं।

१—लोकगीत

२—गीतकथाएं और लोकगाथाएं

३—लोकोक्ति, पहेलियां, बुझौवल आदि ।

४—लोककथा

५--उत्पत्तिकथाएं, दन्तकथाएं तथा लोकविश्वास।

यदि सूक्ष्म दृष्टि से विश्लेषण करें तो हम सहज ही भेद-उपभेद के आधार पर उपर्युक्त वर्गों को अनेक उपवर्गों में विभाजित कर सकते हैं।

लोकगीत--

लोकसाहित्य के भण्डार में लोकगीतों का स्थान निःसंदेह सर्वोच्च है। प्राथमिक संस्कृति के निम्नतम स्तरों में भी हृदय की अनुभूतियों को संगीतमय शैली में व्यक्त करने के प्रयोग विशेष प्रयत्न किये गए बिना ही पाए जा सकते हैं। संस्कृति के क्रमिक विकास के साथ मानव की काव्यात्मक वृत्तियों का भी विकास होता है, और लोकगीतों की शैली तथा भावभूमि भी क्रमशः अधिक विस्तृत होने लगती है। लोकगीतों का क्षेत्र स्वयं ही अधिक व्यापक है। मानव-जीवन के किसी एक महत्त्वपूर्ण मूलभाव को सरलतम रूप में व्यक्त करनेवाली दो पंक्तियों में ही पूर्ण छोटा सा गीत तथा शैली एवं भावों की दृष्टि से विकसित, जीवन के विभिन्न पक्षों को कवित्वपूर्ण, रसमय तथा अलंकारिक ढंग से स्पर्श करनेवाली लोकगाथाएं, दोनों मूलतः लोकगीत परिवार के ही हैं।

लोकगीत स्वतः स्फूर्त काव्य के प्राकृतिक अंग हैं। बिना प्रत्यक्ष विचार अथवा प्रयत्न के ही सामान्यतः उनका क्रमशः निर्माण होता जाता है।

लोकगीतों में अनेक रचयिता अथवा रचनाकाल का प्रश्न महत्त्वपूर्ण नहीं रहता। उनका महत्त्व तो उनकी सहज रसोद्रेक की शक्ति तथा सरल सौन्दर्य में रहता है। उनमें एक व्यक्ति की अनुभूति की अपेक्षा लोकहृदय की अनुभूति ही अधिक रहती है। व्यक्तिविशेष की भावनाओं का प्रतिनिधित्व न कर लोकसमुदाय की भावना के कहीं अधिक सच्चे प्रतीक होते हैं। काल और स्थान की सीमा को लांघ ग्रामीण गायक और गायिकाओं के अधरों पर जीवित रहनेवाले ये लोकगीत अतीत की परम्परा को वर्त्तमान में भी अंशतः जीवित बनाए रखते हैं। समय के व्यवधान से लोकगीतों के बाह्य स्वरूप में परि-

वर्त्तन तो अवश्य होते हैं, किन्तु उनके मूलभाव तथा अभिव्यक्ति की मौलिक शैली सामान्यत: अपरिवर्तित ही रहती है।

सब लोकगीत कविता की कोटि में नहीं आते। मूलत: तो वे गीत होते हैं, अत: गेय होना उनका प्रमुख गुण होता है। अनुभूति की मार्मिकता तथा अभिव्यक्ति के सरल स्पष्ट किन्तु तीव्र ढंग के कारण अनेक गीतों में अंशत: काव्य के गुण स्वाभाविक रूप से ही आ जाते हैं। अपेक्षाकृत विकसित तथा सुसंस्कृत समूहों के अधिकांश गीतों में थोड़े अथवा अधिक अंश में कवित्व साधारणत: मिलता ही है, किन्तु प्राथमिक संस्कृतियों के निम्न धरातल पर जीवन यापन करनेवाली अनेक आदिवासी जातियों के गीतों के सम्बन्ध में ऐसा नहीं कहा जा सकता। हैदराबाद दक्षिण की 'चेंचू' जाति के अध्ययन में ही श्री क्रिस्टाफ वान फ्यूरर—हैमन्डार्फ ने बताया है कि उनके गीत प्राय: अस्पष्ट उद्गार ही होते हैं, उनमें काव्यात्मक अभिव्यक्ति का अभाव रहता है। आसाम की 'कोन्यक नागा' जाति के गीत सांस्कृतिक दृष्टि से महत्त्वपूर्ण होते हुए भी, कवित्व की दृष्टि से प्राय: उपेक्षणीय ही हैं। छत्तीसगढ़ की 'कमार' जाति के गीतों के सम्बन्ध में स्वयं मेरा मत भी यही है कि उनमें विस्तारपूर्वक वर्णन करने की शक्ति तो है, किन्तु जहां भावनाओं के तीव्र आवेग की अभिव्यक्ति का प्रश्न आता है, गीतों की शक्ति कुंठित हो जाती है और इस परिस्थिति में उनके उद्-गार अस्पष्ट तथा अर्थहीन से हो जाते हैं। अनेक भारतीय आदिवासी जातियां ऐसी भी हैं जिनके लोकगीत कविता की दृष्टि से समृद्ध हैं। श्रीवैरियर एल्विन और श्रीशामराम ठिवाले द्वारा संगृहीत मध्यप्रान्त के गोंड बैगा, परधान आदि जातियों के गीत और श्री आर्चर द्वारा संगृहीत छोटा नागपुर की संथाल आदि जातियों के अनेक गीत 'कविता' के रूप में भी महत्त्वपूर्ण हैं।

प्रकार तथा शैली की दृष्टि से लोकगीतों का निम्नलिखित वर्गी-करण किया जा सकता है।

सामान्य गीत

नृत्यगीत

गीतकाव्य

लोकगाथा

उपर्युक्त वर्गों में गीतकथा, और लोकगाथा दोनों में 'गीत' के तत्त्वों के अतिरिक्त 'कथा' के तत्त्व भी रहते हैं। अत: उनकी अपनी अपनी एक विशिष्ट कोटि होती है। विषय गायन के समय तथा गायकों की सामाजिक स्थिति के आधार पर भारतीय लोकगीतों का अधिक विस्तृत वर्गीकरण किया जा सकता है --

१--सामान्य गीत--जो समय अथवा जाति का भेद किए बिना सर्वसाधारण द्वारा गाए जा सकें।

२--विशेष अवसरों के गीत--जैसे विशिष्ट ऋतु, उत्सव, पर्व आदि के गीत। विशेष नृत्यों के गीत, संस्कारों के गीत आदि।

३--जाति विशेष के गीत-- जिन पर सर्वसाधारण का अधिकार न होकर एक जाति अथवा समूह का ही अधिकार होता है।

४--धार्मिक गीत

५--स्त्रियों के गीत

६--भिखारियों के गीत

७--लोकविश्वास निहित गीतकथाएं

८--अनुभव के वचन उपदेश सम्बन्धी गीत आदि।

उपर्युक्त भिन्न भिन्न प्रकारों में सामान्य गीतों की श्रेणी में आने-वाले गीतों की संख्या ही सबसे अधिक है। अधिकांश नृत्य गीत केवल नृत्यों के ही गीत नहीं होते वे साधारण अवसरों पर भी गाए जा सकते हैं। उदाहरणार्थ ,कर्मा, नचौरी, आदि गीत। इस श्रेणी में विभिन्न प्रकार के नृत्यों के उपयुक्त विभिन्न प्रकार के गीत होते हैं। मध्यप्रदेश की आदिवासी गोंड और बैगा आदि जातियों के ,कर्मा, ,सैला, तथा ,ददरा, आदि नृत्यों के गीत विभिन्न शैलियों के होते हैं। उड़ीसा की जुआंग जाति के गिद्ध नृत्य, कोयल नृत्य, पक्षी नृत्य, मयूर नृत्य, भालू नृत्य, गज नृत्य, अजगर नृत्य, हरिण नृत्य तथा वन शूकर नृत्य के गीत विभिन्न शैलियों के होते हैं। विशिष्ट अवसरों के उपयुक्त गीतों की श्रेणी में हिन्दुओं के संस्कारों के गीत अत्यन्त महत्त्वपूर्ण हैं। जन्म

विवाह, जीवन-मरण के प्रत्येक संक्रान्ति काल के अवसर के उपयुक्त गीत हमारे लोकगीतों के भण्डार में हैं । हमार देश की प्रत्येक ऋतु के वैशिष्ट्य एवं सौन्दर्य का वर्णन करने वाले विभिन्न लोक भाषाओं के गीत हमारे लोक साहित्य की विशेषता है। अनेक गीतों पर किसी जाति विशेष का ही अधिकार होता है और उन गीतों में हम उस जाति की सांस्कृतिक विशेषताओं तथा आचार विचारों की सुन्दर झलक पाते हैं। धार्मिक लोकगीतों विशेषत: महाराष्ट्र तथा दक्षिण भारत के गीतों का हमारे लोक साहित्य में अत्यन्त महत्त्वपूर्ण स्थान है, क्योंकि इन लोकगीतों ने अपने विशिष्ट संस्कृति क्षेत्रों को अपनी ओजस्वी तथा उपदेशपूर्ण वाणी से अनुप्राणित किया है । स्त्रियों के गीतों में बच्चों को सुलाने की लोरियां---चक्की पर गाए जाने वाले गीत, अनाज कूटने के समय गाए जानेवाले गीत, तथा विशेषत: बेटी की विदाई के अवसर पर गाए जाने वाले गीत, महत्त्वपूर्ण होते हैं । उनमें भारतीय नारीत्व के अनेक मार्मिक पक्षों का अत्यन्त हृदयस्पर्शी चित्रण मिलता है। अनेक गीतों और लोकगाथाओं में आदि वासियों के लोक-विश्वास निहित रहते हैं। उनमें सांस्कृतिक दृष्टिकोण तथा जीवन के मूल्यों पर प्रकाश डालने वाले गीत, समाज विज्ञान के क्षेत्र में कार्य करनेवाले विद्यार्थियों के लिए बहुमूल्य होते हैं। यह दुःख का विषय है कि सामान्यत: भारतीय भाषाओं तथा विशेषत: हिन्दी में जो लोकगीतों के संग्रह प्रकाशित हुए हैं उनमें इस प्रकार के गीतों की प्राय: उपेक्षा ही की गई है। उपदेशात्मकगीतों और अनुभव के वचनों की अपनी एक विशिष्ट श्रेणी है। उत्तरी भारत के घाघ और भड्डरी के गीतों में ग्रामीण जीवन के नित्य उपयोग में आ सकने योग्य जो अनुभव हैं, वे विनोद के साथ ही महत्त्वपूर्ण शिक्षा देने की सामर्थ्य भी रखते हैं।

इन लोक गीतों का महत्त्व क्या है ? सर्वप्रथम तो लोकगीत लोक जीवन की कविता है। वे अपने सरल एवं निष्कपट भाव सौन्दर्य के कारण, काव्य के रूप में ही महत्त्वपूर्ण हैं। उनमें लोक जीवन के सुख और दुःख माधुर्य और करुणा, तथा अश्रु और हास का भावपूर्ण

चित्रण रहता है। उनमें छन्द का अभाव रहता है । किन्तु लय अवश्य रहती है। साहित्य के विद्यार्थियों ने अलंकार तथा रस की दृष्टि से लोक गीतों का अध्ययनकर उनकी विशेषताओं की कतिपय सुन्दर विवेचनाएं प्रस्तुत की हैं। भाव व्यंजना तथा ध्वनि सौन्दर्य की दृष्टि से भी अनेक गीत मधुर प्रतीत होते हैं। विशेषतः श्रृंगार करुण, वात्सल्य वीर और यदा कदा हास्य रस के अनेक उदाहरण हमारे लोक गीतों में उपलब्ध होते हैं। आज तक हिन्दी में लोक गीतों का अध्ययन अधिकांशतः काव्य की दृष्टि से ही हुआ है। अतः उनके इन पक्ष की विवेचना करने के लिए कुछ, उदाहरण प्रस्तुत कर रहा हूं एक मिलनातुर हृदय की उत्सुकता का यह चित्र अपनी सरलता के कारण ही मोहक हो गया है:----

"को जानि बालम ल भेंटवो कि नाहीं।
कोरे गावे मांग संवारे,
दरपन में छैंया देखे,
को जानि बालम ल भेंटवो कि नाहीं!"

कौन जाने प्रियतम से मेरी भेंट होती है कि नहीं!
'मांग' निकाल केश श्रृंगार कर
दर्पण में अपना रूप तो देख रही हूं
कौन जाने प्रियतम से भेंट होती है या नहीं?

हमारे अनेक लोकगीत विरहणियों के आंसुओं से गीले हैं। उत्तर भारत के एक लोकप्रिय गीत की पंक्तियां हैं:--

"सजन सकारे जायंगे,
नैन मरेंगे रोय,
विधना ऐसी रैन कर
भोर कबहुं न होय।"

'साजन' प्रातःकाल चले जायंगे
रो रोकर मेरे नयन जीवनहीन हो जायंगे
भाग्य! ऐसी रात्रि कर दे
कि प्रातः कभी होवे ही नहीं।

एक अन्य गीत में एक सुन्दर अर्थगर्भित पंक्ति है:—

"मैं पापन ऐसी जली कि कोयला भई न राख"

इस मार्मिक पंक्ति का भाव और अर्थ तो स्पष्ट ही है किन्तु किसी अन्य भाषा में इसका अनुवाद करना यदि असंभव नहीं तो कठिन अवश्य है।

श्री राकेश द्वारा संगृहीत मिथिला का एक विरह गीत है:—

"दीप जरिए बाती जरल
तै ओने पहु मोरा आयल"

दीप जल गया है, बत्ती जल गई है, किन्तु मेरा प्रियतम अभी भी नहीं आया।

एक अन्य गीत है:—

"साजन तेरे हेत, अंखियां तो नदियां भईं,
मन भयो बारू रेत, गिर गिर परत करार ज्यों।"

—प्रियतम तेरे लिए मेरी आंखें नदी बन गई हैं हृदय रेत सरीखा हो गया है—रेत की करार सरीखा गिर गिर पड़ता है।

केवल प्रेम और विरह ही नहीं जीवन के अन्य पक्षों की भी मार्मिक अभिव्यक्ति करने की क्षमता हमारे लोकगीतों में है। जीवन का कटु यथार्थ निम्नलिखित गीत में कितने नीरव व्यंग्य से स्पष्ट किया गया है:—

"महंगी के मारे बिरहा बिसरिगा,
बिसरिगा कजरी कवीर,
देख के गोरी के उभरा जोबन
उठत न करेजवा में पीर।"

'मंहगाई के कारण मैं, बिरहा गीत, भूल गया,
भूल गया 'कजली' और 'कवीर' भी
अब तो गोरी के उन्नत उरोजों को देखकर भी हृदय में कसक नहीं होती।

उत्कल तथा छत्तीसगढ़ के सीमावर्ती भाग के किसानों का एक गीत है:—

"जरा ठहर !
मेरे किसान मित्र जरा ठहर !
गर्मी से तू व्याकुल हो गया है,
क्षण भर ठहर विश्राम करले ।
तू मुझे मारता है—
पर मैं चलूं कैसे ? मैं तो बूढ़ा हूं ।
जब तरुण था तब तो मैं बिना रुक चलता था
तब धान के कैसे ऊंचे ऊंचे ढेर लगते थे ।
मैं बूढ़ा बैल ! तूही कह मैं कैसे चलूं ।
मार ! मार ! मार !
जीर्ण हड्डियों का निर्जीव रक्त बहेगा,
पर मैं शक्तिहीन कैसे चलूंगा ?
मालिक, साहूकार, जमींदार मुझे मारते हैं,
और तू चुप चाप सब सहन कर लेता है ।
मार ! मार ! तू मुझे मार ले,
मैं सब चुपचाप सहन कर लूंगा ।"

मूक पशु के जीवन की करुणा गीत की इन पंक्तियों में साकार हो उठी है ।

जन्म, विवाह, मरण के गीत, कभी कभी काव्य की दृष्टि से भी आकर्षक और मधुर होते हैं । कुछ उदाहरण लीजिए:—

"अंधेरी रात थी,
धीरे धीरे चन्द्रमा निकला,
प्रतीक्षा और कष्ट के बाद,
धर में पुत्र का जन्म हुआ,
गाओ भाई ! गाओ !
नाचो भाई ! नाचो !"

मध्य देश के आदि वासियों का यह गीत सरल किन्तु सरस ढग से पुत्र जन्म के अवसर पर हृदय में उठने वाले भाव को सहज ही व्यक्त कर सकने में समर्थ है ।

बेटी की बिदा के गीत तो अपनी करुणा और मार्मिकता के लिए प्रसिद्ध ही हैं :—

"अमेरे लीलुड़ा बननी चल कलड़ी
उड़ी जांशु परदेश जी
आज के दादा जी ना देश मा
काले जांशु परदेश जी"

(गुजराती)

मैं तो हरे भरे वन की पक्षी हूं
उड़कर परदेश चली जाऊंगी,
आज दादा जी के देश में
कल परदेश चली जाऊंगी

"सांज चिड़िया दा चम्बा वे,
बावल असीं उड़ जाणा।
साडी लम्बी उड़ारी वे,
बावल केहड़े देश जाणा।
तेरा चौका भाण्डा वे,
बावल तेरा कौन करे ?
तेरा महलां दे विच विच वे,
बावल मेरी मां रोवे।

(पंजाबी)

मेरे पिता, मैं तो पंछी हूं,
मुझे एक दिन उड़ जाना है।
मेरी उड़ान लम्बी है,
उड़कर न जाने कौन से अनजाने देश में जाऊं
न जाने तुम्हारा चौका बर्तन कौन करेगा ?
हाय तुम्हारे महल में मेरी मां, मेरे लिए कितनी रोवेगी।

'कविता कौमुदी' के ग्राम गीत संग्रह में पं० रामनरेश त्रिपाठी ने मां की मृत्यु पर पुत्र के हृदय में उठने वाले भावों का वर्णन करने वाला एक करुण तामिल गीत दिया है जिसका आशय है:—

मां, जिसने मुझे दस माह गर्भ में रखा,
और इतना कष्ट सहा !
जो कष्ट होते हुए भी मेरे जन्म का समाचार सुनकर
प्रसन्न हुई थी ।
और जिसने इतने प्रेम से मुझे अपने वक्ष का दूध
दिया था,
मेरी वह मां अब मुझे कहां मिलेगी ?
मेरी उस मां से अब मैं कब मिलूंगा ?

लोकगीतों में कभी कभी तत्त्व ज्ञान की गम्भीरता से जीवन पर दृष्टिक्षेप करने के प्रयत्न भी मिलते हैं।

"जीयत जनम लेबो,
हांसि लेबो खेल लेबो,
मरे ले दूलभ संसार !
जिनगी के नईं हे भरोसा !"

--जन्म लिया है तो जी लें,
हंस लें और खेल लें,
मरने से संसार दुर्लभ हो जावेगा !
जीवन का कोई भरोसा नहीं !!

लोकगीतों के काव्यगत दो अन्य विशेषताओं का उल्लेख करना भी आवश्यक है। अनेक लोकगीतों में हम उनकी गीत, और ध्वनि, द्वारा उनमें अभिव्यक्त किए गए विषय का सुन्दर एवं जीता जागता चित्र अपने सम्मुख पाते हैं ! यथाः--

"कोनकी ले झांक देखे
डांग भर बेला,
लकर लकर आवत होही,
मोर अलबेला ।"

--वातायन से झांक कर देखा,
सूर्य क्षितिज पर आने वाला है ।
मेरा अलबेला प्रियतम,

'लकर लकर' (झटपट) आ रहा होगा।

उक्त गीत के लकर लकर आवत होही, शब्दों में ऐसा प्रतीत होता है, जैसे उस अज्ञात नारी के अज्ञात 'अलबेलों' के व्यग्र पगों की गति का चित्र हो।

इसी प्रकार हमारे लोकगीतों में अनेक सुन्दर 'प्रतीक' भी व्यवहृत हुए हैं। प्रत्यक्ष एवं स्पष्ट भाषा-शैली का प्रयोग न कर, लोकगीतों में अनेक स्थलों पर प्रतीकों की भाषा का प्रयोग उनके अज्ञात रचनाकारों से किया है। हमारे लोकगीतों में भी चन्द्रोदय आशा का प्रतीक है, अंधकार निराशा का। 'मन में बसे फूल की सुगन्धि' का पा जाना प्रेम की सफलता का द्योतक है और प्रेमी प्रेमिका के मिलन पर आंधी आना तथा वृष्टि होना शारीरिक रूप से उनके प्रेम की चरम परिणति का प्रतीक है। आदि वासी जातियों की संस्कृति के अध्ययन में यदा कदा उनके दैनिक जीवन के वार्तालापों में भी ऐसे कवित्वपूर्ण 'प्रतीकों' का उपयोग हमारे ध्यान को आकर्षित करता है। उदाहरणार्थ:—

छत्तीसगढ़ की "चौखुटिया मुंजिया" जाति में जब कोई व्यक्ति अपने परिवार के किसी अविवाहित व्यक्ति के लिए बधू खोजने जाता है—वह कन्या के घर वालों से कहता है, ",तुम्हर घर में फूल फूटिस है। हवा में ओकर सुगन्ध हमरे गांव में पहुंचिस है। ओका मांगे बर आए हन—तुम्हारे घर में एक कली प्रस्फुटित हुई है। वायु द्वारा उसकी सुगन्ध हमारे गांव तक पहुंची है। हम उसे मांगने के लिए आए हैं।" संकेतों और प्रतीकों की यह भाषा, अनेक लोकगीतों को अश्लीलता के दोष से बचाकर उनमें काव्य का चमत्कार ला देती है।

लोकगीतों का समस्त महत्त्व उनके काव्य सौन्दर्य में ही सीमित नहीं है। लोकगीतों को संसार के महाकवियों की रचनाओं से श्रेष्ठ अथवा उनके समकक्ष सिद्ध करने के प्रयत्न उचित नहीं कहे जा सकते। सच तो यह है कि प्रत्येक क्षेत्र अथवा जाति के गीतों का एक बहुत बड़ा भाग ऐसा होता है जो प्रायः कवित्वहीन होता है, किन्तु फिर भी सांस्कृतिक तथा समाजशास्त्रीय महत्त्व के कारण जिसकी उपेक्षा नहीं की जा सकती। लोकगीतों का संग्रह करते समय हमें इस अंश

की उपेक्षा नहीं करनी चाहिए। लोकसाहित्य लोकजीवन का दर्पण है—उसमें हमारे बहुजन समाज का जीवन प्रतिबिम्बित है। श्री देवेन्द्र सत्यार्थी ने कहा है:—"भारतवर्ष का कोई भी चित्र भारतीय प्रथाओं, रीति रिवाजों और हमारे आन्तरिक जीवन की मनोवैज्ञानिक गहराई को इतने स्पष्ट तथा सशक्त ढंग से व्यक्त नहीं कर सकता जितना कि लोकगीत कर सकते हैं।" भारत के विभिन्न सांस्कृतिक क्षेत्रों (Culture areas) तथा विभिन्न जातियों के सांस्कृतिक वैशिष्ट्य तथा उनकी मूल भूत सांस्कृतिक दृष्टि को समझने के लिए उनके लोकगीतों में हमारे सामाजिक एवं कौटुम्बिक आदर्शों की सुन्दर व्याख्या मिलती है। समाज को किस प्रकार का व्यवहार ग्राह्य है और किस प्रकार का अग्राह्य है, इसकी भी मार्मिक विवेचना हम लोकगीतों में सहज ही प्राप्त हो जाती है। समाज में पुरातन काल से चली आई परम्परा लोकाचार तथा प्रथाओं के विश्लेषण में लोकगीतों से महत्त्वपूर्ण सहायता प्राप्त हो सकती है। वेद और स्मृतियां भारतीय संस्कृति के जिन पक्षों के सम्बन्ध में मौन हैं, लोकगीत अशंतः उनके सम्बन्ध में कुछ कह सकते हैं। आर्येतर सभ्यता की अनेक प्रथाएं जो आर्य-प्रभुत्व की स्थापना के बाद भी भारत में बनी रहीं, लोकगीतों की सहायता से समझी जा सकती हैं। इतिहास के अंधेरे पृष्ठों को भी लोकगीतों और लोकगाथाओं से यदा कदा प्रकाश की कुछ किरणें मिल सकती हैं। यद्यपि लोकगीतों में किसी घटना का वर्णित होना ही इतिहास के लिए प्रमाण नहीं माना जा सकता, लोकगीतों के दिशा संकेत के आधार पर इतिहास अन्वेषक अपने कार्य को आगे बढ़ा सकता है। सामान्य लोकगीतों में इतिहास अप्रयत्क्ष तथा लोकभावना द्वारा परिष्कृत रूप में आता है किन्तु चारणों और भाटों द्वारा सुरक्षित गीतों में इतिहास का रूप अनेक अंशों में अधिक विश्वास योग्य रहता है। छत्तीसगढ़ क रतनपुर, श्रीपुर आदि स्थानों के इतिहास के सम्बन्ध में वहां के देवारों के गीत निःसन्देह उपयोगी सामग्री प्रस्तुत कर सकते हैं। गोंडों के राजकीय उत्थान और पतन का इतिहास 'परधान' जाति की अनेक गाथाओं में सुरक्षित

है। इतिहास-संशोधक वैज्ञानिक अनुसंधान द्वारा इन गीतों और गाथाओं से महत्त्वपूर्ण सामग्री पा सकते हैं।

अपेक्षाकृत विकसित संस्कृतियों में लोकगीत मनोरञ्जन, अनूभूति की अभिव्यक्ति, तथा अवसर की धार्मिक अथवा सांस्कृतिक आवश्यकता की पूर्ति के लिए ही प्राय: गाए जाते हैं। प्राथमिक-संस्कृतियों में लोकगीत मनोरंजन के अतिरिक्त एक अन्य महत्त्वपूर्ण उद्देश्य की पूर्ति में सहायक होते हैं अपने विशिष्ट समूह के सांस्कृतिक तथा सामूहिक दायित्व को बनाए रखने के लिए वे अनेक अंशों में उत्तरदायी होते हैं। अनेक वर्षों तक मानव शास्त्र के क्षेत्र में अनुसंधान करनेवाले विद्यार्थियों ने लोकगीतों की उपेक्षा की, किन्तु श्री वैरियर एल्विन ने 'बैगा' जाति सम्बन्धी अपने महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ में उक्तजाति के मौखिक साहित्य का प्रचुर प्रयोग कर जाति के जीवन का एक पूर्ण चित्र अंकित किया और यह सिद्ध कर दिया कि भारतीय नृतत्त्व के अध्ययन में लोकगीतों का विश्लेषण कितना आवश्यक है। अधिकांश आदिवासी जातियों का सामाजिक तथा सांस्कृतिक दृष्टिकोण उनके गीतों में व्यक्त होता है। उनके गीतों से परिचित हुए बिना, हम उनकी जीवन दृष्टि को नहीं समझ सकते। सभ्य भारत के आदिवासियों का एक गीत है:—

यदि तुम मेरे जीवन की कहानी जानना चाहते हो तो मेरे कभी गीतों को सुनो।"

"श्री डी० एन० मजूमदार, छोटा नागपुर की 'हो' जाति के संस्कृति-प्रकार (Culture pattern) विषयक अध्ययन में उनके एक गीत द्वारा ही 'हो' समाज के उस चरम मूल्य पर पहुंचे जो परिवर्तन काल में उनकी संस्कृति की मूल-प्रेरणा रहा है। श्री० वैरियर एल्विनने 'बैगा' जाति के अध्ययन में तथा स्वयम् इन पंक्तियों के लेखक, ने 'कमार' जाति-विषयक अपनी पुस्तक में उक्त जातियों के सामाजिक तथा सांस्कृतिक 'दृष्टिकोण' का विश्लेषण उनके लोकगीतों की सहायता से किया है। डा० फ्यूरर हैमन्डार्फ ने बतलाया है कि 'कोनयक नागा' जाति की संस्कृति में उनके लोकगीतों का क्या महत्त्व है।

आदिवासी संस्कृतियों में लिपि के अभाव में भाषा प्रायः मौखिक ही रहती है और वहां शिक्षा का कोई प्रत्यक्ष एवं निश्चित प्रबन्ध नहीं रहता। सामान्यतः लोकगीत ही शिक्षा संस्था का महत्वपूर्ण कार्य इन संस्कृतियों में करते हैं—छत्तीसगढ़ की 'कमार' जाति में अति निकट सम्बन्धियों में यौन-सम्बन्धों का प्रतिबन्ध करने के लिए बालकों तथा तरुणों को प्रत्यक्ष शिक्षा देने की आवश्यकता नहीं पड़ती। उनके एक गीत में एक कामलोलुप पिता अपनी पुत्री से संबन्ध स्थापित कर उसे पत्नी रूप में रख लेता है। कुछ समय के बाद ही इसके परिणाम स्पष्टतः लक्षित होने लगते हैं। तालाब—नदी में मछली नहीं मिलती, वर्षा नहीं होती, खेती नहीं हो सकती, वन के कन्द-मूल फल भी दुर्लभ हो जाते हैं। एक अन्य गीत में भाई बहिन में अनुचित सम्बन्ध हो जाता है, और अपने इस अपराध के कारण वे समाज से तिरस्कृत कर दिए जाते हैं। इस पाप सम्बन्ध की सन्तान उत्पन्न होते समय स्त्री को दारुण वेदना होती है। उपर्युक्त गीतों का शिक्षात्मक अभिप्राय अप्रत्यक्ष होते हुए भी स्पष्ट है। प्राथमिक संस्कृतियों में लोकगीत केवल सामूहिक अथवा व्यक्ति विशेष की अनुभूतियों की अभिव्यक्ति तथा मनोरंजन के साधन ही नहीं हैं, वे जाति के धर्म, आचार विचार, प्रथाओं एक शब्द में, उसकी संस्कृति के भूत और वर्तमान में सामञ्जस्य बनाए रखकर भविष्य में भी परम्परा को स्थायी बनाए रखते हैं। प्राथमिक संस्कृतियों को लोकगीतों से बल मिलता है, और वे उसके विभिन्न अंगों को सम्बद्ध रखकर उसे विशृंखलित होने से बचाते हैं। लोक गीत, इस तरह लोक संस्कृतियों के आधार भी हैं और उनकी प्रेरक शक्ति भी।

गीत कथा और लोक गाथा

गीत कथा, लोकगाथा—दोनों में लोकगीत और लोककथा के तत्त्व सम्मिलित रूप में मिलते हैं। गीत कथा मुख्यतः एक लोक कथा ही रहती है, किन्तु रूप में वह गद्यात्मक होकर पद्यबद्ध होती है। उसे हम लोक साहित्य के अन्तर्गत खण्ड काव्य मान सकते हैं। इसके विपरीत लोक गाथा आकार प्रकार में गीत कथा से बड़ी रहती है, और यद्यपि

मुख्य कथा सूत्र उसमें एक ही रहता है, कथा के विकासक्रम में स्थल-स्थल पर अनेक पात्र और घटनाएं उससे संबद्ध हो जाती हैं, और इस प्रकार अनेक गाथाएं एक स्वतन्त्र 'कथा' की अपेक्षा ,कथा समूह प्रतीत होती हैं। गीत कथा जहां एक विशिष्ट क्षेत्र में ही प्रायः सीमित रहती है, लोकगाथाओं का क्षेत्र विशाल होता है। एक ही लोकगाथा भिन्न भिन्न संस्कृति क्षेत्रों में थोड़े बहुत परिवर्तनों के साथ मिलती है। उदाहरणार्थ 'रसालू कुंवर' की लोकगाथा पंजाब के श्री स्विनर्टन और श्री टेम्पल ने प्रकाशित की। बिलासपुर के एक अहीर से लिखकर श्री वेरियर एल्विन ने और रायपुर जिले के दक्षिणी भाग के एक 'धुरगोंड' गायक से लिख कर इन ंक्तियों के लेखक ने। संयुक्तप्रान्त, बुन्देलखण्ड तथा उत्तरी महाकोशल ही में यह गाथा प्रचलित है तथा लोकप्रिय भी। इस गाथा के चारों प्रकाशित संस्करणों में अनेक समानताएं हैं। किन्तु फिर भी प्रत्येक क्षेत्र में उसका रूप भिन्न है। इसी प्रकार 'ढोलामारू, की गाथा मूलतः राजस्थान की होकर भी छत्तीसगढ़ तक आ गई है और यहां के ग्रामीण समाज में एक आश्चर्यजनक लोकप्रियता प्राप्त कर सकने में समर्थ हुई है। 'लोरिक चन्देनी' और 'आल्हा ऊदल' की गाथाएं भी प्रायः समस्त उत्तर और मध्यभारत में गाई जाती हैं। परधानों की गोंडजाति सम्बन्धी उत्पत्ति कथाएं उनके राजकीय उत्थान पतन सम्बन्धी गीतों के साथ किंचित् परिवर्तित रूपों में विशाल गोंड जाति के विस्तृत क्षेत्रों के भिन्न भिन्न भागों में गाई जाती हैं।

लोकगाथाओं के सम्बन्ध में यह स्मरण रखना आवश्यक है कि उनमें से अनेक लिखित रूप में प्रायः गद्य ही प्रतीत होती हैं। किन्तु उनके कहने के विशिष्ट ढंग से श्रोताओं को वे गीत के समान ही लगती है। स्थल तथा वर्णन के अनुकूल उनकी पक्तियां छोटी बड़ी हो सकती हैं, तथा लय के लिए उनमें बहुधा कुछ अर्थहीन शब्द या पंक्तियां जोड़ ली जाती हैं।

लोकगीतों की अनेक विशेषताएं हमें गीतकथाओं और लोकगाथाओं में मिलती हैं। बड़े आकार के कारण उनमें साधारण गीतों की

अपेक्षा विषय अथवा कथावस्तु का विस्तार अधिक हो सकता है तथा कवित्वपूर्ण विशद वर्णनों के लिए भी उनमें पर्याप्त स्थान रहता है। लोकगाथाओं के विभिन्न मूल भावों (Motifs) और उनके आधार पर कथाओं के विकास का विवेचन अन्यत्र किया गया है। गीतकथाओं में लोककथाओं की ये सब विशेषताएं रहती हैं। । भाव-पूर्ण, चमत्कारिक, तथा प्रभावशाली वर्णनों की शक्ति उनकी अपेक्षा अधिक रहती है। इसी कारण गीतकथाओं और लोकगाथाओं में पाए जानेवाले शोभा–महत्ता के वर्णन शृंगार सौन्दर्य के चित्र, तथा युद्ध के विभिन्न पक्षों के विवरण अधिक पूर्ण, सशक्त तथा बलशाली होते हैं । काव्य की दृष्टि से निस्सन्देह लोकसाहित्य के इस अंग का स्थान सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण है । समाजशास्त्रीय दृष्टि से, लोककथा शैली की होने के कारण हम लोककथाओं की तरह गीतकथाओं और लोकगाथाओं को भी एक सीमा से अधिक महत्त्व नहीं दे सकते, छोटे लोकगीत जहां भावों एवं जातीय दृष्टिकोण को सच्चे रूप में प्रगट करते हैं, गीत कथाओं और गाथाओं में विचित्र एवं आश्चर्य-जनक घटनाओं की इतनी बहुतायत रहती है कि उनका महत्त्व सांस्कृ-तिक न रह कर साहित्यिक ही रह जाता है । अनेक गाथाओं का क्षेत्र इतना विस्तृत होता है कि केवल उन्हीं के आधार पर किसी एक क्षेत्र विशेष के प्राचीन अथवा वर्तमान सामाजिक संगठन सम्ब-न्धी निष्कर्षों पर पहुंचना भ्रामक होगा । इसके विपरीत , अनेक गाथाएं तथा उत्पत्ति कथाएं ऐसी भी होती हैं, जिनमें आदिवासी जातियों के मूलभूत लोकविश्वास निहित रहते हैं, और जिनको समझे बिना हम उन जातियों की संस्कृति के अपने अध्ययन को पूर्ण नहीं बना सकते ।

गीतकथाओं और गाथाओं में थोड़े बहुत अनुपात में प्रायः सभी रसों का सुन्दर संस्कार लक्षित होता है । प्रेम, मान, और विरह के अनेक आकर्षक उदाहरण हमें सहज ही यहां प्राप्त हो सकते हैं। 'चन्देनी' छत्तीसगढ़ की लोकप्रिय लोकगाथा में जहां नायिका के 'यौवन भरे शरीर' और 'पूर्णिमा के पूर्ण चन्द्र के समान मुख' का वर्णन

है वहां 'ग्रांसुग्रों से गीली रातों' ग्रौर 'चिन्ता से भरे उदास दिनों' का भी उल्लेख है। लोरिक ग्रौर चन्देनी के प्रेम ग्रौर मान के ग्रनेक सुन्दर चित्र इस कथा में हैं। रसालू कुंवर की गाथा शौर्य तथा वीरतापूर्ण कार्यों के विवरणों से भरी है। युद्ध ग्रौर प्रेम के वर्णनों के ग्रतिरिक्त कथा के ग्रन्तिम भाग में 'भयानक' रस का रोमांचकारी उद्रेक भी है। एक शरीरहीन नरमुण्ड—हिलता, डोलता, बोलता, उसकी यात्रा के ग्रन्तिम युद्ध के पूर्व रसालू कुंवर से मिलता है। कुछ समय बाद ही इस प्रकार के सैकड़ों मुण्ड एकाएक जोर से हंसकर रसालू कुंवर को भयभीत कर देते हैं। यद्यपि कथानक में नायक को इन नरमुण्डों से महत्त्वपूर्ण सहायता प्राप्त होती है ग्रौर ग्रन्त में वे हानिकारक प्रमाणित नहीं होते, गायक के मुंह से उनका विस्तृत विवरण जब श्रोता सुनते हैं तब बालकों ग्रौर स्त्रियों को ही क्या, पुरुषों को भी रोमांच हो ग्राता है। वीर तथा रौद्र रस से ग्रोतप्रोत ग्राल्हा ऊदल की गाथा ग्रौर महाराष्ट्रीय वीरों के पवाड़े किसे प्रभावित नहीं करेंगे? गोंड जाति की बैरागढ़ के राजकुमार की गाथा भी इस दृष्टि से ग्रत्यन्त सुन्दर है। 'गोंडवानी' लोकगाथाग्रों की माला गोंड-संस्कृति के ग्रध्ययन की दृष्टि से तो विशेष स्थान रखती ही है, किन्तु वह साहित्यिक दृष्टि से भी महत्त्वहीन नहीं है। ग्रनेक गाथाग्रों में 'वात्सल्य' 'हास्य' तथा 'शान्त' रस ग्रादि के भी सुन्दर उदाहरण मिलते हैं। 'ढोला' की गाथा में रेवा की कैद से छूटकर जब नायक घर ग्राता है तब मां के वक्षस्थल से उसके लिए स्वभावतः ही फूट पड़नेवाली धारा उसे पुत्र प्रमाणित कर देती है। 'पण्डवानी' में भीम के बल कौशल के कार्यों के ग्रतिरिक्त, ग्रनेक ऐसे प्रसंग भी ग्राते हैं जब कि श्रोता प्रयत्न करने पर भी ग्रपनी हंसी नहीं रोक पाते। भीम बुद्धिबल से एक मूर्ख राक्षस को पराजित करना चाहता है। राक्षस उसकी चतुराई भरी बातों में ग्रा जाता है। भीम राक्षस से पूछता है, "मामा! कभी ग्रपने दांत साफ करते हो?" राक्षस उत्तर देता है "नहीं।" "ग्रच्छा तो ग्राग्रो खाने के पहले तुम्हें दातून करा दूं।" कहकर भीम एक विशालकाय वृक्ष तोड़कर ले ग्राता है। उस वृक्ष की दातून बना

भीम एक एक कर राक्षस के सब दांत तोड़ देता है। दांतों के क्रमशः टूटने पर राक्षस को कैसी पीड़ा होती है, और वह किस तरह रोता-चिल्लाता है, गायक इसका अतिरंजित वर्णन विस्तारपूर्वक सुनाता जाता है और श्रोतागण हंसते जाते हैं। फिर राक्षस के भोजन का समय आता है। दांत न रहने के कारण वह यह नहीं समझ सकता कि वह किस तरह खा सकेगा। भीम उसे आंखें बन्द कर और मुंहखोल बैठ जाने के लिए कहता है और यह आश्वासन देता है कि वह पर्याप्त मात्रा में भोजन उसके मुंह में डाल देगा। राक्षस उसकी बात मान लेता है। भीम ने पहले से ही बड़े बड़े पत्थरों की चालीस गाड़ियां वहां मंगाकर रक्खी थीं। उनमें से एक पत्थर उठा-उठाकर भीम राक्षस के मुंह में डालता गया, और जब सब पत्थर समाप्त हो गए तब उसने राक्षस से उठने के लिए कहा। पेट में भरे पाषाणों के भार के कारण राक्षस उठ नहीं सका और अनेक प्रकार से विलाप कर अन्त में मर गया। उस सम्पूर्ण घटना का वर्णन निःसन्देह अत्यन्त हास्योत्पादक है। लोकगाथाओं में व्यंग कभी कभी इतना सीधा, सरल और स्पष्ट न होकर अत्यन्त तीव्र भी होता है। 'ढोला' की कथा में 'रेवा' जादूगरनी का बन्दी ढोला मुक्त होने के अनेक असफल प्रयत्न करने के बाद, एक बार उसके प्रभाव क्षेत्र की सीमा पार करने में सफल हो जाता है, 'रेवा' उसके पीछे भागती आती है, किन्तु उसे अपने प्रभावक्षेत्र में न पाकर निराश हो क्रुद्ध हो उठती है। ढोला के ऊंट की पूंछ ही उसे अपने प्रभावक्षेत्र में दीख पड़ती है और अपने निराशा-जनित क्रोध में वह उसे काट लेती है। नदी के एक तट पर बैठकर दूसरे तट पर बैठे हुए ढोला को वह करुणात्मक गीत गा-गाकर लुभाना चाहती है। सरल ढंग के कुछ उत्तर देने के बाद तीव्र व्यंग से एक गीत में ढोला उससे कहता है, "रेवा" मैं तो चला, मेरी एक स्मृति तुम्हारे पास अवश्य रहेगी। ऊंट की पूंछ संभालकर अपने पास रखना और जब भी तुम्हें मेरी याद आए उसे देख लिया करना।"

निःसन्देह व्यंग का यह ढंग साधारण नहीं है। राजा भरथरी

(भर्तृहरि) सम्बन्धी मध्ययुग में प्रचलित अनेक लोकगीतों में वैराग्य तथा शान्ति के सुन्दर उपदेश हैं।

समाज, संस्कृति तथा धर्म के विद्यार्थियों का ध्यान, एक विशिष्ट कोटि की गाथाओं के प्रति आकर्षित होना आवश्यक है। महाभारत, रामायण तथा अनेक पौराणिक गाथाओं के अनेक 'लोक-संस्करण' परिवर्तित रूपों में हमारे ग्रामीण समाज में प्रचलित हैं। उदाहरणार्थ छत्तीसगढ़ की "पण्डवानी" गाथा महाभारत का ही एक रूपान्तर है इसी भांति "लछमनजती" की कथा रामायण के मूल कथानक पर आश्रित है। इन गाथाओं के सूक्ष्म विश्लेषण द्वारा हम इस निष्कर्ष पर पहुंचते हैं कि ग्राम्यप्रदेशों के निवासियों ने भारतीय संस्कृति के इन सर्वमान्य एवं बहुप्रचलित आख्यानों को उनके मूल संस्कृत रूप में ग्रहण न कर, एक भिन्न दृष्टिकोण से स्वीकार कर उन्हें अपनी संस्कृति का एक अंग बना लिया है। लोकतत्त्व इन गाथाओं में इतने अधिक अंशों में आ गया है कि उनका मूल रूप ही सम्पूर्णतः परिवर्तित हो गया है। लोक-हृदय तथा लोक-मस्तिष्क ने इन पौराणिक घटनाओं को एक सर्वथा नवीन दृष्टिकोण से ग्रहण किया है। "पण्डवानी" में द्रौपदी पांच पुरुषों की पत्नी न होकर, केवल एक युधिष्ठर की ही पत्नी है। "लछमनजती" में सीता ने अग्निपरीक्षा नहीं दी, समाज को सीता और लक्ष्मण के अनुचित सम्बन्धों की शंका हुई और उनका उन्मूलन कर अपने चरित्र की दोषहीनता प्रमाणित करने के लिए लक्ष्मण ने अग्नि-प्रवेश किया। बुन्देलखण्ड के........, में भोज आदि के साथ राजा अकबर का भी उल्लेख है। 'मधुकर' में प्रकाशित श्री० कृष्णानन्द गुप्त के "ग्रामसाहित्य" शीर्षक लेख से ज्ञात होता है कि इन गीतों में अकबर भी अपना शीर्ष उतारकर देवी के चरणों में चढ़ाता था। भविष्य में इस प्रकार की गाथाओं का सावधानीपूर्वक संग्रह कर, उनके सूक्ष्म विश्लेषण और अध्ययन से हम महत्त्वपूर्ण साहित्यिक तथा सांस्कृतिक सामग्री सहज ही प्राप्त कर सकते हैं।

जन-जीवन तथा जन-साहित्य के मर्म को समझने के लिए लोक-साहित्य का संकलन तथा अध्ययन अत्यन्त आवश्यक है।

लोक-साहित्य

(यमुनाप्रसाद उपाध्याय शास्त्री, साहित्याचार्य साहित्यरत्न)

यही लोक शब्द है जिसका अपभ्रंश रूप 'लोग' है, अतएव लोक का तात्पर्य साधारण लोगों से है और लोक साहित्य का तात्पर्य साधारण लोगों के साहित्य से है। आज के पढ़े लिखे लोग सभ्य तथा अपढ़ जन-समुदाय असभ्य समझा जाता है। बहुत कुछ यह ठीक भी है परन्तु इस नाते अपढ़ जनसमुदाय अर्थात् लोक सर्वथा त्याज्य नहीं हो गया है, उसकी उपेक्षा नहीं की जा सकती है। संस्कृत के पंडितों के मुंह से सुना जाता है कि "यद्यपि शुद्धं लोकविरुद्धं नाचरणीयम्" शुद्ध होने पर भी लोक के विरुद्ध आचरण न करना चाहिए।

गोस्वामीजी ने अपने जगत्प्रसिद्ध रामचरित मानस (रामायण) के बालकाण्ड में सत्संग की महिमा का वर्णन करते हुए लिखा है कि--'सो जानब सत्संग प्रभाऊ--लोकहु वेद न आन उपाऊ'। यहां केवल यह तात्पर्य है कि ऐसा कहकर गोस्वामीजी ने लोक और वेद को समान स्थान पर रक्खा है, अथवा यों कहें कि लोक को प्रथम स्थान दिया है। साहित्य समाज का दर्पण है। इस सिद्धान्त पर सम्भवत: किसी को आपत्ति न होगी। प्रस्तुत लेख में इसी बात को ध्यान में रखकर लोक-साहित्य की चर्चा की गई है। हम लोक-साहित्य को ग्रामीणों के गीत कहकर नहीं टाल सकते हैं। सत्य बात तो यह है कि हमारे गांव ही हमारी मर्यादा को बचाए हुए हैं। अंग्रेजों ने जान-बूझकर हमारे देश में शिक्षा का प्रसार नहीं होने दिया, सम्पूर्ण देश के शिक्षित हो जाने से उन्हें भय था। यह अच्छा ही हुआ अन्यथा लार्ड मैकाले का स्वप्न सत्य हो जाता कि "अंग्रेजी शिक्षा से भारतीय ऊपर से तो काले रहेंगे और भीतर से गोरे अंग्रेजों के अनुगामी हो जाएंगे।" आज जहां हमारे देश के बहुत से मनुष्य नवीनता की ओर आकृष्ट होकर अपनी पुरानी रीति नीति और संस्कृति को छोड़ चुके हैं वहां हमारे गांव उसे अपनाए हुए हैं। जो गांव नगरों से जितनी ही दूर है उनमें उतनी ही मात्रा में भारतीयता उपस्थित है।

लोक-साहित्य केवल ग्रामीणों का ही साहित्य नहीं है प्रत्युत भारत का सच्चा साहित्य है। एक बात है उसका लिखित रूप नहीं है। कवि-वर श्रीरामनरेश त्रिपाठी ने लोक-साहित्य को लिखित रूप देने का प्रयत्न किया है, इस दिशा में उनका प्रयास स्तुत्य है परन्तु वह कार्य अभी पूरा नहीं अधूरा ही है। अतएव लोक-साहित्य श्रुत-साहित्य के रूप में आपको मिलेगा। लोक-साहित्य में आपको लोक का ऐसा सजीव चित्रण मिलेगा कि जिसे सुनकर आप मुग्ध हो जाएंगे। लोक-साहित्य में कल्पना की उन्मुक्त उड़ान तो नहीं है परन्तु तीव्र अनुभूति का जैसा वास्तविक चित्रण उसमें है वैसा आज के कवि-खद्योतों की रचनाओं में भूलकर भी नहीं हो पाता है। लोक साहित्य में कृत्रिमता नहीं है, स्वाभाविकता है, जीवन के विभिन्न अंगों का यथार्थ चित्रण ही लोक साहित्य का उद्देश्य जान पड़ता है। लोक साहित्य में देश की संस्कृति तथा जीवन के आदर्शों का इतिहास प्रचुर मात्रा में मिलता है। देश की संस्कृति नगरों में नाम-मात्र को भी नहीं रह गई है इसलिए गुलामी से देश का पिंड छुड़ाने के पश्चात् यदि आप मानसिक गुलामी से भी छुटकारा पाना चाहते हैं तो गांवों का आधार लीजिए। वहां भारतीय सभ्यता बिखरी पड़ी है। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने कहा है कि "भारतीय हृदय का सामान्य-स्वरूप पहचानने के लिए पुराने प्रचलित ग्राम-गीतों की ओर भी ध्यान देने की आवश्यकता है, केवल पंडितों द्वारा प्रवर्तित काव्य परम्परा का अनुशीलन ही अलम् नहीं।"

लोक-गीतों के रचयिताओं का उद्देश्य यही जान पड़ता है कि ये या तो मनोरंजन के लिए बनाए गए हैं या श्रम-निवारण के लिए। क्योंकि इन गीतों का उपयोग जन्म, मुंडन, कर्णवेध, यज्ञोपवीत, विवाह और विभिन्न संस्कारों पर तो होता ही है साथ ही ग्रामीण देवियां पीसते, कूटते, खेत काटते और मार्ग चलते समय भी इन ग्राम्य-गीतों का गान करती हैं। (यथास्थान व्याख्यासहित इनके उदाहरण उप-स्थित हैं) आप देखेंगे कि समय समय पर इन ग्राम्य-गीतों ने अपनी प्राकृतिक मनोहारिता के बल से शिष्ट कहलानेवाले समाज को अपनी

और आकृष्ट करने से नहीं छोड़ा है । बड़े बड़े धुरन्धर कवियों ने इन पर मुग्ध होकर इन्हीं के लय पर अपने छन्दों को रचकर अपने को धन्य समझा है । पीयूषवर्षी जयदेव ने 'गीत-गोविन्द' में, विद्यापति ने अपने पदों तथा कविचक्रचूड़ामणि गोस्वामी तुलसीदासजी ने 'रामलला नेहछू' 'पार्वती मंगल' 'जानकी मंगल' आदि इन्हीं गीतों के आधार पर रचे हैं, इन पुस्तकों की सम्पूर्ण रचना ग्राम्य-गीतों की ही शैली पर है ।

इस लोक-साहित्य का काल-निर्धारण करते समय यही कहना पड़ता है कि ये लोक-गीत उस काल से चले आ रहे हैं, जब से कि मानव ने भाषा का व्यवहार प्रारम्भ किया होगा जिस प्रकार हमारे देश के अन्य प्रान्तों के निवासी अपने को मदरासी, पंजाबी और बंगाली कहते हैं और हम लोगों को हिन्दुस्तानी कहते हैं ; जिस प्रकार अन्य प्रान्तों की भाषाएं प्रान्तीय नामवाली होने से तत्स्थानीय ही बनी रहने में शोभा पाती हैं और हमारी भाषा हिन्दी अपने नाम से ही हिन्दुस्तान की भाषा होने का दावा करती है, उसी प्रकार हिन्दी-प्रदेशीय लोक-साहित्य भी सम्पूर्ण भारत का प्रतिनिधित्व करता हुआ दिखाई देता है । मानों यह अधिकार विधाता के नाम से इस प्रदेश के नाम पट्टा कर दिया गया हो । परन्तु एक बात है—हिन्दी लोक-साहित्य (लोक-गीत) से आप यह न समझें कि जो हिन्दी हम आप पढ़े लिखे लोग बोलते हैं और व्यवहार में लाते हैं तथा जिसमें वर्तमान साहित्य की रचना हो रही है, उस हिन्दी में लोकगीत हैं। लोकगीत हिन्दी की उपभाषाओं में हैं । अवधी, बुंदेलखंडी, छत्तीसगढ़ी, व्रज आदि भाषाओं में ही लोक-साहित्य है । लोक-गीतों का स्वाभाविक माधुर्य उक्त भाषाओं में ही है । नगर के सम्पर्क से कुछ कृत्रिम गीत गांवों में भी सुनाई देने लगे हैं। लोगों को बता देना चाहिए कि इसे रोकें अन्यथा अपने को ही मिटा देंगे ।

लोक-साहित्य जिन व्यक्तियों की ज्ञानराशि से निःसृत होकर प्रादुर्भूत हुआ है उन लोगों ने केवल भाव के आवेश में आकर ही उसे नहीं रच डाला है, वास्तव में लोक-साहित्य के गीत भारतीय लोक-

जीवन की झांकी दिखाते हैं। इन गीतों में आप सूक्ष्म बुद्धि की कला का दर्शन नहीं पाते परन्तु मानव-जीवन में जो स्थूल सत्य है वह पूर्ण-रूप से इन गीतों द्वारा व्यक्त होता है। जब तक किसी कविता में मानव हृदय का स्पर्श करने की क्षमता नहीं होती है तब तक वह स्थायी साहित्य में नहीं गिनी जा सकती। क्या काव्य की दृष्टि से रहीम के दोहे महाकवि बिहारी के दोहों से उच्च हैं! नहीं, परन्तु प्रसिद्धि की दृष्टि से रहीम के दोहे बिहारी के दोहों की अपेक्षा अधिक व्यापक हैं। इसका कारण यह है कि जीवन के अधिक निकट होने से रहीम के दोहे सर्व-मान्य बन गए हैं और बिहारी के दोहे काव्य-कला की दृष्टि से अधिक परिमार्जित तथा कल्पनाप्रसूत होने से भावमय होने के कारण केवल विद्वानों की ही वस्तु रह गए हैं। लोकगीतों में यदि सहृदयानन्दकारक गुण न होते तो आज कहीं उनका पता न चलता। वे अनादिकाल से जनसमाज के हृदयों पर अपना अधिकार न किए होते प्रत्युत सिनेमा के गानों की तरह कुछ दिन अपनी क्षणिक छटा दिखाकर अनन्त में विलीन हो गए होते।

अब यह विचार करना है कि इन गीतों के रचयिताओं ने मानव-जीवन को व्यक्त करने के लिए क्या आधार चुना है? पहली बात तो यह है कि उन लोगों ने दैनिक जीवन की घटनाओं को चुनकर ऐतिहासिक या पौराणिक घटनाओं के आधार पर उसे व्यक्त किया है। दूसरी बात, कल्पना का भी कुछ आधार लिया है परन्तु उतना ही जितने से कि स्वाभाविकता पर आंच न आने पावे। गीतों के निर्माताओं ने पता नहीं किस आधार पर कथाओं के मूल रूप में विचित्र ढंग से परिवर्तन कर दिया है।

लंका विजय के पश्चात् राम अयोध्या लौट आते हैं। सीता को पुनः वनवास दे देते हैं। इस विषय की कथा जिस प्रकार काव्यों और नाटकों में मिलती है उसी रूप में लोक में भी प्रचलित है। परन्तु गीतों में न जाने कहां से एक विचित्र कारण को लाकर खड़ा कर दिया है। सीता के ननद तो थी परन्तु लोक में उसकी प्रसिद्धि नहीं है। शान्ता दशरथ की कन्या है जो कि शृंगी ऋषि को सम्भवतः रामजन्म से

पूर्व ही ब्याह दी गई थी। यह कथा पढ़े-लिखे लोगों तक ही सीमित है परन्तु कवि की निरंकुशता तो देखिए, वह सीता की ननद से कहलवाता है कि--

'भौजी जौन रवन तोहिं हरि लेइगा उरेहि दिखावहु'

सीता उतर देती हैं--

'जौ मैं रवना उरेहुंउ, उरेहि दिखावहुं'
सुनि पइहंइ बिरन तोहार त देसवा निकरिहंइ।'

सीता को सम्भवत: यह भय है कि यदि मैं रावण का चित्र बनाती हूं तो यह सिद्ध होता है कि मैं रावण से प्रेम करती हूं। वे कहती हैं कि तुम्हारा बिरन (भाई) अर्थात् रामचन्द्र कहीं सुन पायेंगे तो मुझे देश से निकाल देंगे। तथापि सीता अपनी ननद के अनुरोध को नहीं टालती है--

'हथवह सिरजन गोड़वहु, नयना बनाइन,
आइ गए हैं सिरी राम, अंचरि छोरि मूंदेनि।'

सीता की आशंका सत्य होकर सम्मुख आ जाती है। राम आ पहुंचते हैं, भयभीत सीता उस चित्र को अंचल से ढक लेती हैं। फिर भी ननद राम से कह देती है--

'भइया जौन रवन तोर वैरीत भौजी उरेहंइ।'

यह सुनकर राम के हृदय में सीता के प्रति दुर्भाव जागृत हो उठता है, वे अपने भाई लक्ष्मण को बुलाकर सीता के निर्वासन के लिए आज्ञा दे देते हैं। उक्त अवस्था में मनुष्य के हृदय में स्त्री के प्रति ऐसी अवस्था में उत्तेजित हो जाना कितना स्वाभाविक है। धोबीवाली बात वैसी नहीं चिपकती, चाहे सत्य ही क्यों न हो। यहां एक बात और ध्यान देने की है। लोकसाहित्य का विषयविवेचन करते समय यह संकेत किया गया है कि उसमें मानवजीवन की वास्तविक व्याख्या है। यहां राम का चरित्रचित्रण लोक के कितना अनुकूल चित्रित किया गया है, और आगे इसी विषय को लोकगीतों में कितना स्वाभाविक बनाया गया है, उसे भी देखिए--सीता वन को चली जाती हैं, वहां उनके दो पुत्र लव और कुश उत्पन्न होते हैं। एक बार राम उसी वन में आक-

िमक पहुंच जाते हैं (काव्यों तथा नाटकों में भी सीता और राम का मिलन दिखाया गया है) लव और कुश द्वारा राम को विदित हो जाता है कि सीता इसी वन में हैं, वे उनके सम्मुख जाते हैं परन्तु सीता उन्हें देखना नहीं चाहती हैं, वे पृथ्वी में समा जाती हैं—

"फट जा री धरती समा जारी सीता, केसों की हो गई दूब हो राम।
दुसरे पुरुख का मुख नहिं देखूं, जीवत दिया बनवास हो राम॥"

कितना करुण दृश्य है ! कितनी वास्तविकता है !! सीता राम को क्षमा नहीं करती हैं। काव्यादिकों में तो राम-चरित्र को श्रेष्ठ बनाने के लिए बड़ी लीपापोती की गई है, परन्तु लोक साहित्य यथार्थ न्याय ही पर अड़ा हुआ है, उसने राम को क्षमा-प्रदान नहीं किया है। गीत के इस अंश में एक और महत्त्वपूर्ण बात छिपी हुई है । सीता धरती में समा जाती हैं और उनके केश दूब (घास) के रूप में परिवर्तित हो जाते हैं। सम्भवतः इसी पौराणिक तत्त्व के आधार पर हिन्दुओं के यहां दूब का बड़ा महत्त्व है, इनके यहां प्रत्येक मांगलिक कृत्यों में उसकी योजना की गई है।

काशी विश्व की प्राचीन नगरियों में है, वह आदिकाल से हिन्दुओं का देव-पीठ है। इस काशी में देवताओं की कब स्थापना हुई, इस विषय की कोई भी कथा उपलब्ध नहीं हैं। परन्तु लोकगीत में उसका हेतु यह बताया गया है कि जब राजा दशरथ के कोई सन्तान नहीं हो रही थी तो उन्होंने अनेक दान पुण्य किए तथा देवताओं को भी आवाहित किया और कहा कि—

"देवेउं मैं आसन कासन सोने क सिंहासन,
देवता देवेउं मैं कासीक राजमूरति होइके बैठेउ।"

काशी में देवताओं की स्थापना की यह कथा कितनी रोचक बन पड़ी है। इसी प्रकार की अनेक कथाओं का वर्णन दशरथ, राम, सीता, कृष्ण और राधिका आदि को पात्र बनाकर किया गया है। परन्तु साथ ही इन पात्रों में कहीं भी अलौकिकता नहीं आने पाई है । ये सबके सब पात्र लोक-मर्यादा से एक इंच भी बाहर नहीं जाने पाए हैं । लोक-साहित्य की यह सबसे बड़ी विशेषता है। इस विशेषता से बड़ा लाभ

यह है कि जनता इन महापुरुषों को अपने अति निकट पाकर बड़ा संतोष अनुभव करती है। वह समझती है कि ऐसे-ऐसे महापुरुष जब ऐसी दशा में रहे तो हमारी क्या बात है। यह तो साधारण नियम है कि अपने समान अनेकों को पाकर लोगों को कितना ढाढ़स बंधता है। मख्य बात तो यह है कि जब कोई महापुरुष भी उस स्थिति में आ जाय तो कहना ही क्या है। इस तरह हम देखते हैं कि लोकसाहित्य में सामाजिक प्रथा, सास-बहू का सम्बन्ध, संतानहीन का समाज में स्थान, पति-पत्नी का सम्बन्ध आदि विषयों को लेकर कल्पना के आधार पर सफल वर्णन किया गया है।

राम को बन जाने का आदेश प्राप्त हो गया है, वे माता कौशल्या से मिलने जाते हैं। देखिए, उन्हें सीता का कितना ध्यान है--

"राम चले मधुवन का, माई से अरज करइं हो,
माई ! हम तो जावइ मधुवन का, सीता क कैसे रखबिउ!

कौशल्या उत्तर देती हैं, इस उत्तर में सास का बहू के प्रति कितना स्नेह दिखलाया गया है--

"आंगन कुइयां खनउबइ, सीता का नहवउबइ हो,
बेटा खांड़ चिरौजीं क भोजन, हिरदैया बिच रखबइ।"

राम और उनकी माता कौशल्या ने तो अपना कर्त्तव्य पालन किया। अब सीता की उदारचरित्रता तो देखिए, वे राम के बिना नहीं रह सकी हैं--

"राम रसोइयां सीतारानी, कनवां भनक परी हो,
रघुबर, हमहू चलब तोहरे साथ, इहां नाहीं रहबइ।"

एक छोटी बात पर और ध्यान दीजिए--सीता रसोई में हैं, सम्भवतः भोजन बना रहीं थीं। खेद है, कहीं आजकल की कोई पढ़ी-लिखी बहू होती तो----। इतना ही नहीं, राम सीता के सम्मुख वन के भयानक कष्टों को रखते हैं, साथ ही उनकी सुकुमारता का भी ध्यान दिलाते हैं।

"मरि जाबू भुखिया पिअसिया, पान कहां पउबू हो,
सीता कंवल बरन तोहरा गोड़, डगर कइसे चलबिउ ?"

सीता उत्तर देती हैं--

"अड़बइ हम भुखिया पिअसिया, पान बिसरइबइ हो,
रघुबर ! हमहू चलब तोहरे साथ, इहां नाहीं रहबइ ।"

राम और आगे बढ़ते हैं, सीता को देवों और राक्षसों का भय दिखाकर रोकना चाहते हैं—

"उहवां तउ लाखन देवता, पचासन रावन हो,
सीता, तुम ऐसन रनियां जो पइहइं, हरन करि लेइहइं।"

सीता को अपने पातिव्रत पर अडिग विश्वास है, ऐसी आपत्ति में वे केवल पतिदेव का संकेतमात्र चाहती हैं, वे स्वयं उन देवताओं और राक्षसों को भस्म कर सकती हैं—

"का करिहइं लाखन देवता, पचासन रावन हो,
राम, तोहरी जौ आज्ञा पैहौं, भसम होइ जइहइं ।"

ये गीत भारतीयता के जीते-जागते चित्र हैं। इनमें जन्म से लेकर मृत्यु पर्यन्त संस्कारों का विधान है। जितने मांगलिक संस्कार कहे गए हैं जैसे जन्म, अन्नप्राशन, मुंडन, जनेऊ, नहछू, विवाह आदि इन सभी अवसरों पर स्त्रियां विभिन्न प्रकार के मांगलिक गान गाती हैं। इन गीतों में उक्त संस्कारों से सम्बन्ध रखनेवाली रीति-नीति का उल्लेख पाया जाता है। सम्भवतः ये सभी गीत स्त्रियों द्वारा ही रचे गए हैं। आज भी बहुत सी स्त्रियां ऐसे गीतों को रच लेती हैं। स्त्रियां स्वभावतः भावुक और करुणामयी होती हैं, ऐसे हृदय से कविता स्वतः निकल पड़ती है।

लोकसाहित्य स्त्रियों के गीतों तक ही नहीं सीमित है। वसन्त और होली के समय लोग चौपाल, फाग, धमारि आदि गाते हैं। इस समय के गीतों में शृंगार रस की प्रधानता रहती है, साथ ही कवित्व भी रहता है। मनोरंजन भी तो मानव-जीवन का एक मुख्य अंग है। इस विषय का एक उदाहरण पर्याप्त होगा— ।

'पूजन चली गौरी भवानी, जनक सुकुमारी ।
भांति भांति कर पांति लगी हैं, रुचिर फुली फुलवारी ।
कोकिल प्रभु सुधारस बोलत, तहां घूमि रहे बनवारी ।"

इसके अतिरिक्त कुछ जातीय गीत भी हैं। जैसे अहीर का बिरहा

कहार का कहरवा ऐसे ही नाई, धोबी, तेली, कुम्हार आदि के पृथक् शैली और लय के गीत हैं जो अपनी विशेषताओं से युक्त हैं। इन जातीय गीतों में प्रायः उस उस जाति के सामाजिक कृत्य, जातीय कार्य विशेषतया रीति-नीति का वर्णन है। विस्तारभय से हम अधिक उदाहरण न देकर आगे बढ़ेंगे। तेलियों का एक गीत देखिए—

"कौनी की जुनियां तेलिन धनियां अरे लगावे रे, कौनी जुनियां ना कोइलरि सबद सुनावइ कि कौनी जुनियां ना।"

इसमें भी तेलिन के कर्तव्य-गुरुता की ओर संकेत है। वह कोयल बोलने के समय उठकर अपने कार्य में तत्पर हो जाती है।

वीररस-प्रधान एक और रचना लोकसाहित्य की अमूल्य निधियों में है उसे आल्हा कहते हैं। वर्षा के दिनों में किसानों की बैठकों में ढोल गनकती हुई उन्हें उत्साहित करती है—

"सुमिरन कइके अजैपाल को, लैके रामचन्द्र को नाम।
खैंचि सिरोही लाखन राना, समुहें गोल गए समुहाय॥
जैसे भेड़हा भेड़िन पकरै, जैसे सिंह बिड़ारै गाइ।
तैसे लाखन दल मां पैठे, रन मां कठिन लरै तलवार॥

काव्य कला की दृष्टि से भी लोकसाहित्य के विषय में विचार करना आवश्यक है। लोकसाहित्य में कला स्वाभाविक रूप में आ गई है। लोकगीतों के रचयिता विद्वान् कविजन तो हैं नहीं, अतः उनमें किसी प्रकार का नियन्त्रण नहीं है। प्रायः सभी गीत 'स्वान्तःसुखाय' ही रचे गए हैं। परन्तु उनमें सरसता और सुन्दरता है। काव्य की भाषा में जो विशेषता होती है वह लोकगीतों में भी पाई जाती है। अन्तर केवल इतना ही है कि उनका परिष्कृत रूप यहां नहीं है। लोकगीतों में शब्दालंकार में अनुप्रास और अर्थालंकार में उपमा प्रायः मिलते हैं—

"बाउ बहइ पुरवइया न पछुवां झकोरइ,
बहिनी दिहिउ केवरिया ओठकाइ, सोवउ सुख नींदरि।" —
"राम के मथवा झलरिया बहुत निक लागइ, अधिक छवि लागइ हो,
मानों कमल कर फूल भंवर सिर लुन करइ।"

ये गीत छन्दोमय तो कहे जा सकते हैं परन्तु प्रधानता लय की ही है। गानेवाले खींचतान करके उसे बैठा लेते हैं। इन गीतों के पद तुकान्त तथा अतुकान्त दोनों प्रकार के होते हैं। ध्वनिकार ने ध्वनिगत व्यंजना की बड़ी प्रशंसा की है। देखिए, इस गीत में विरहिणी नायिका के हृदय की विवशता कैसे मार्मिक ढंग से व्यञ्जित होती है--

"साजन तेरे हेत, अंखियां तउ नदियां भइं,
मन भयो बालूरेत, गिरि गिरि परत करार ज्यों।"

उसका मन बालू के रेत सा हो गया है, आंसुओं की धारा से वह स्थिर ही नहीं हो सकता। 'गिरि गिरि परत' से प्रकट होता है कि वह बारम्बार मन को सम्हालने का प्रयत्न करती है पर क्या करे उसका मन तो वश में है ही नहीं। नदी में बाढ़ आने पर उसके कगारों का गिरना स्वाभाविक ही है। नायिका की आंखें पति-विरह-जन्य दु:ख से उमड़कर बह रही हैं।

इस पद को देखकर कालिदास के यक्ष का स्मरण हो आता है--

"अरे अरे कारी बदरिया, तुहीं मोरि बादरि,
बादरि, जाइ बरसहु ओहि देस, जहां पिय छाए।"

अन्तर केवल इतना है कि वहां नायक है, यहां नायिका। विरही-जनों को जड़-चेतन का ज्ञान नहीं रहता है। गोस्वामीजी के राम भी तो सीता के हरण हो जाने पर इसी दशा को प्राप्त हुए थे। कृष्ण के अन्तर्धान हो जाने पर नन्ददास की गोपियां भी तो कहती हैं कि--

"हे चंपक हे कुसुम, तुम्हें छवि सबते न्यारी।
नैकु बताय जु देउ, कहां हरि कुंजविहारी॥"

इस प्रकार यह सिद्ध होता है कि सभी दृष्टियों से लोकसाहित्य उपेक्षणीय नहीं है। परन्तु वास्तविकता यह है कि अभी तक कोई इस कार्य के लिए कटिबद्ध नहीं हो सका है अथवा यह कार्य व्यक्तिविशेष का है भी नहीं। इस कार्य को तो भाषा-संस्थाएं ही संभाल सकती हैं। यदि समय रहते इनका संग्रह न हो सका तो सम्भवत: पुराने लोगों के साथ ही लोकसाहित्य भी चला जायगा क्योंकि हम देखते हैं कि आधुनिक जीवन गत समस्याएं ऐसी उलझी हुई हैं कि आज के नवयुवक

या युवती उस ओर ध्यान देने का अवसर ही नहीं पा रहे हैं। इधर कुछ कवियों ने लोकगीतों की शैली पर कुछ रचनाएं की हैं परन्तु इससे काम नहीं चल सकता है। जिस प्रकार लोकभाषा और सभ्य भाषा का पारस्परिक सम्बंध है उसी प्रकार लोकसाहित्य और सभ्य साहित्य का भी सम्बन्ध है। इस सम्बन्ध की निकटता में ही भारतीय साहित्य का हित है, इसके साथ राष्ट्र का भी हित है। इस सम्बन्ध को दृढ़ न करने से भारतीयता की रक्षा तो न हो सकेगी चाहे भारत की हो भी जावे। अतएव भारतीय संस्कृति पर निष्ठा (रखनेवाले सज्जनों) का कर्त्तव्य होना चाहिए कि वे लोकसाहित्य के सृजन और परिष्कार का ध्यान रक्खें तथा उसे संगृहीत करके अपना और अपने साहित्य का भला करें। अलम्।

लोक गीतों में काव्य पक्ष

ले०—जयशङ्करनाथ मिश्र 'सरोज' एम्० ए० (प्र० वर्ष)

लोकगीतों से हमारा तात्पर्य प्रायः उन गीतों से है जो ग्राम की स्त्रियों द्वारा गाये जाते हैं, परन्तु यदि ध्यानपूर्वक देखा जाय तो वे गीत केवल ग्रामवासियों से ही सम्बन्ध नहीं रखते, वरन् उनका आज के नागरिक जीवन से भी उतना ही घनिष्ठ संबंध है, जितना ग्रामों से। इस कथन की सत्यता प्रमाणित करने के लिये हमको एक बार अपने सामाजिक जीवन के विकास-क्रम का सिंहावलोकन करना पड़ेगा। किस प्रकार आज के नागरिक जीवन का निर्माण हुआ है, इसके विस्तृत विवेचन की आवश्यकता नहीं है। ग्राम जीवन का अगला कदम आज के नागरिक जीवन की उन्नति की प्रथम रूप रेखा थी। अतः आज यांत्रिक उपकरणों की सहायता पाकर और जीवन में आधुनिकतम सुविधाओं का समावेश करके चाहे हमने अपने पहले जीवन को भुलाने की कितनी ही चेष्टा क्यों न की हो, किन्तु फिर भी हमारी प्राकृतिक शक्तियों—कल्पना और अनुभूति को यह कृत्रिम साधन जीत सके हैं, इसका विश्वास नहीं होता। आज भी जब रात्रि की नीरवता में नदी के तट पर स्थित मांझी के झोपड़े से ग्रामगीत की कड़ियां सुनाई देती हैं, तो भावुक और अनुभूति पूर्ण हृदयों को जो रस और आनन्द उनमें मिलता है वह शेक्सपियर, बायरन और शेली के गीतों में नहीं मिलता।

इसका तात्पर्य यह नहीं है कि इन कवियों की रचनाओं में काव्य का चमत्कार अथवा भाव नहीं है, वरन् इसका सबसे बड़ा कारण यही हो सकता है कि वे साहित्यिक, भावपूर्ण और सुन्दर होते हुए भी, भारतीय हृदय के लिए विदेशी और अपरिचित हैं और इसी से रस-परिपाक में समर्थ नहीं हैं।

इस कथन का अभिप्राय लोकगीतों की मनोवैज्ञानिक शक्ति और उनका भारतीय समाज में स्थान सिद्ध करने का है। लोकगीत लोक

की वस्तु हैं। उनमें जीवन के प्रायः उन सभी भावों और क्रियाओं का वर्णन है जो मानवमात्र में पाई जाती हैं। यदि आचार्य शुक्ल जी के इस कथन को "जिस प्रकार आत्मा की मुक्तावस्था ज्ञान दशा कहलाती है, उसी प्रकार हृदय की मुक्तावस्था रस दशा कहलाती है। हृदय की इसी मुक्ति साधना के लिये मनुष्य की वाणी जो शब्द विधान करती है उसे कविता कहते हैं" ध्यान में रखकर लोकगीतों की परीक्षा की जाय तो निःसन्देह कहा जा सकता कि वे शुद्ध कविता हैं। वर्डस्वर्थ के शब्दों को "Poetry is the spontaneous overflow of powerful feelings" यदि हम कविता की परिभाषा माने तो भी लोकगीत सच्ची कविता का रूप है, क्योंकि विद्वानों के अनुसार काव्य की विभिन्न परिभाषाएं हैं। यदि ध्यानपूर्वक देखा जाय तो काव्य कवि की भावुकता का उद्रेक है, और इसी उद्रेक को बाद में परिभाषाओं के पिंजरे में जकड़ दिया गया है तथा उसके नियम निश्चित कर दिये गये हैं। किन्तु यहां पर विचारणीय यह है कि पहले काव्य की उत्पत्ति हुई है और तब लक्षण ग्रंथों की रचना की गई है। अतः लोकगीत उसी कवि की भावनाओं का बंधनहीन उद्रेक हैं।

लोकगीत बन्धनहीन उद्रेक होने के कारण आज के 'शिष्ट काव्य' से सर्वथा भिन्न हैं। उनमें यह आवश्यक नहीं है कि सभी भावों और रसों का सांगोपांग और यथातथ्य वर्णन हो, किन्तु यह अवश्य है, कि वे हृदय में एक हिलोर-उत्पन्न करने में समर्थ होते हैं। जैसे --

"राम के मथवा झलरिया बहुत नीक लागै,
अधिक छवि लागै मानो कमल कर फूल–
भंवर सिर लुन करै।"

यहां पर कमल के फूल पर गुंजन करते हुए भौंरे की उपमा का निर्वाह राम के कमल-समान मुख और बालों की लटों को भौंरा मान-कर बड़े स्वाभाविक रूप से किया गया है।

इसी प्रकार से मन के विविध भावों का स्पष्टीकरण तथा भावनाओं का सूक्ष्म निर्वाह भी सफलतापूर्वक दिखाई देता है। जैसे--

"अरे, अरे कारी बदरिया तुहीं मोरि बादरि
बादरि जाइ बरसहु वहि देस जहां पिय छाए।"

उपर्युक्त पंक्तियों में विरहिणी के हृदय की वेदना का जिस सुन्दरता से निर्वाह हुआ है, वह आज के सिनेमा गीतों—

'कारे कारे बादरवा' में कहां तक अंकित हो सकता है, उसका निर्णय आप स्वयं कर सकते हैं।

उपर्युक्त उदाहरणों से तात्पर्य यही है कि लोकगीतों में भावों का स्पष्टीकरण बड़े स्वाभाविक और सफल रूप में हुआ है। काव्य शास्त्र के आचार्यों के अनुसार काव्य के दो पक्ष—भाव और कला होते हैं। किन्तु यदि इन नियमों का आरोप हम लोकगीतों में करें तो ठीक नहीं है क्योंकि लोकगीत बन्धनमुक्त भावोद्रेक हैं। किन्तु स्वतन्त्र होने पर भी उनमें काव्य के सब अंगों--भाषा, भाव, अलंकार और ध्वनि का पूर्ण विकास पाया जाता है। हां, यह अवश्य है कि शिष्ट-काव्य की भांति उनमें कृत्रिमता का समावेश नहीं होता। इन गीतों में जीवन के प्रति संवेदना और सहानुभूति का जो समन्वय देखने को मिलता है उसका आज के शिष्ट कहलानेवाले काव्य में कहीं आभास भी देखने को नहीं मिलता। इस समन्वय में आचार्य शुक्ल जी का यह कथन कितना सत्य है—"जब पंडितों की काव्य भाषा स्थिर होकर उत्तरोतर आगे बढ़ती हुई लोक भाषा से दूर पड़ जाती है और जनता के हृदय पर प्रभाव डालने की उसकी शक्ति क्षीण होने लगती है तब शिष्ट समुदाय लोकगीतों का सहारा लेकर अपनी काव्य परम्परा में नया जीवन डालता है। —————— जब-जब शिष्टों का काव्य पंडितों द्वारा बंधकर निश्चेष्ट और संकुचित होगा तब तब उसे सजीव और चेतन प्रसार देश की सामान्य जनता के बीच स्वच्छन्द बहती हुई प्राकृतिक भावधारा से जीवन तत्व करने से ही प्राप्त होगा।"

आचार्य शुक्ल जी के अनुसार लोकगीतों की परम्परा और उनका साहित्यिक महत्त्व बहुत अधिक है और वे एक सार्वभौम तथा सर्वत्र-व्यापी शक्ति के प्रतीक हैं।

अब देखना यह है कि 'वक्रोक्ति काव्य जीवितम्' अथवा, 'रमणीयार्थ प्रतिपादक शब्द: काव्यम्' के अनुसार लोकगीत कहां तक काव्य की वस्तु हैं।

लोकगीतों की भाषा मुक्त एवं बंधनहीन है अर्थात् उसमें मात्राओं अथवा यति का कोई पारस्परिक संबंध स्पष्ट देखने में नहीं आता। यति और छंद की लय का निर्णय गायक की सुविधा के अनुसार होता है, किन्तु जहां तक अलंकारों का संबंध है वे लोकगीतों में यथेष्ट मात्रा में पाये जाते हैं। जैसे, अनुप्रास

"गहिरी जमुनवां के तिरवां चनन गछ रुखवा हो
विन डरिया परे हैं हिंडोलवा झुलहिं रानी रुकमिन हो।"
"न मोरे माई न बाबा न मोर सग भइया हो
स्वामी ! भौजी बोलइं बिष बोल करेजवा म सालै।"

रूपक—

"प्रेम पिरित रस बिरवा तुम पिय चलेउ लगाइ
सींचन कइ सुधिया राखेउ देखेउ मुरझि न जाइ।

लोकगीतों में जितना अच्छा निर्वाह उपमा का किया गया है उतना प्राय: अन्य अलंकारों का नहीं। हां, स्वभावोक्ति तथा व्यंग का चित्रण सुन्दर हुआ है।

लोकगीतों में 'बारहमासा' तथा 'कजरी' अत्यंत सफल और व्यापक हैं। इसी भांति लोकगीतों में नायक और नायिका के विरहवर्णन भी बड़े सफल और मार्मिक शब्दों में अंकित हुए हैं। जिनके सहज सौन्दर्य के सामने देव और बिहारी की उक्तियां कृत्रिम ज्ञात होती हैं। पति-वियोग से दुखी विरहिणी कहती है—

"साजन तेरे हेत, अंखियां तो नदियां भई
मन भयो बारू रेत, गिर-गिर परत करार ज्यों।"

बरसात की रात को देखकर, विरहिणी के हृदय की ज्वाला जाग उठती है—

"भादों रैनि भयावनि ऊधौ गरजै अरु घहराय
लवका लवकै ठनका ठनकै छतिया दरद उठि जाय'

लोकगीतों का प्रसार केवल किसी एक प्रांतविशेष में ही नहीं वरन् देश के सभी भागों में पाया जाता है। उनमें प्राय: सभी रसों और भावों

का परिपाक भी सफलतापूर्वक हुआ है। कल्पना और भाषा के सुन्दर समन्वय से उनकी व्यापकता संवेदनात्मक और मनोहारिणी हो उठी हैं। उनमें परिष्कार चाहे भले ही न हो किन्तु काव्य की रमणीयता अवश्य है। नीचे के उदाहरण में सफल और सजीव कल्पना का सुन्दर समन्वय कवि की भाषा में देखने को मिलता है—

अइलैं बसन्त, महक फइलल बाय दिगंत,
भइया धीरे-धीरे चलैले बयार।
फुललैं गुलाब, फुललीं उजरी बेइलिया,
अमवा के डरियन पर बोलेलीं कोइलिया।
बोले पपीहा मदमस्त आपन बोलिया,
महकिया लुटावै आम लै बउर के झोलिया।

इन गीतों में कहीं-कहीं सुन्दर आध्यात्मिकता का भी दर्शन होता है। नदी किनारे जलती हुई चिता को देखकर कवि कह देता है—

नदिया किनारे एकठे चिता धुंधुआले,
लुतिया उड़ि उड़ि गगनवा में जाय।

अंत में कवि के हृदय में युग-युग से सोई हुई दार्शनिकता जाग पड़ती है—

अइसनै चिता हो एक दिन हम हूं जरवलीं,
वोहि संघ फूंकि देहली आपन अरमान।

इस प्रकार स्पष्ट है कि लोकगीत हमारे जीवन और साहित्य की अमूल्य वस्तु हैं। यह वही काव्य है जिसका सृजन 'मा निषाद प्रतिष्ठां त्वमगमः के रूप में आदिकवि ने किया था और आज भी हिन्दी-साहित्य में, जिसे हम अमर साहित्य कहते हैं? इन्हीं लोकगीतों में परिस्कृतरूप है और इस प्रकार कबीर, जायसी, तुलसी और मीरा हमारे अमर लोक-साहित्य के विधाता हैं।